नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४६--अंक ४ [नवीन संस्करण] माघ १९९८

भारतीय सृष्टिक्रम-विचार

[लेखक—श्री संपूर्णानंद]

१

ऋग्वेद में सृष्टिक्रम

(क) श्री नासदीय सूक्त की रूपरेखा

जगत् का मूल एक, अद्वय, अखंड, अविभाज्य है। उसको ब्रह्म कहते हैं। वह दिक् और काल से अनवच्छिन्न है, न ज्ञाता है और न ज्ञेय, वरन् शुद्ध ज्ञानस्वरूप, विज्ञानघन है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, दयालु, इत्यादि कोई भी उपाधि उसके लिये उपयुक्त नहीं है। यदि कहीं ज्योतिःस्वरूप ऐसा विशेषण उसके लिये आया हो तो वहाँ ज्योति का अर्थ शुद्ध चेतना है, प्रकाश नहीं। बुद्धि सामान्यतया उन्हीं विषयों को गोचर बना सकती है जो हमारे अनुभव में आते हैं और वाणी इन्हीं अनुभवों

को शब्दों में व्यक्त कर सकती है। ब्रह्म का स्वरूप साधारण अनुभव का, अथच बुद्धि और वाणी का, विषय नहीं है। इसी से श्रुति कहती है, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"—वहाँ से मन और वाणी लौट आते हैं, वहाँ तक पहुँच नहीं सकते। चूँकि ब्रह्म के लिये कोई विशेषण युक्त नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा निर्गुण है इसी लिये वेद उसे 'नेति, नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कहते हैं।

अनस्तित्व, अज्ञान-तत्त्व का नाम माया है। वह ब्रह्म के साथ उसी प्रकार संलग्न है जिस प्रकार पत्र के एक पृष्ठ के साथ दूसरा पृष्ठ, बर्तन के बाहरी भाग के साथ भीतरी भाग, शरीर के साथ छाया। वह जड़ होने से चेतन ब्रह्म से भिन्न है, ब्रह्म के सिवा किसी और वस्तु का अस्तित्व न होने से अभिन्न है। माया का रूप भी शब्दों में व्यक्त करना असंभवप्राय है, इसलिये उसे अनिर्वचनीया कहते हैं। उसके ही कारण ब्रह्म में जगत् का आभास होता है पर उसके ही कारण ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म ज्ञान का विषय, ज्ञेय बनता है। माया का अर्थ ही है वह जिसके द्वारा जाना जाय—'मीयते अनया इति माया'। ज्ञेयत्व के साथ ही ब्रह्म में ज्ञातृत्व भी आता है, क्योंकि ज्ञाता के बिना ज्ञेय की कल्पना नहीं की जा सकती।

ब्रह्म सत् है और माया असत्। इन दोनों का मेल हो ही नहीं सकता। फिर भी ब्रह्म पर माया के आवरण की जो भ्रांत प्रतीति होती है उसकी संतति माया-शबल ब्रह्म माया-विशिष्ट ब्रह्म—ईश्वर है। ईश्वर भी दिक्काल से बाहर है परंतु उसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम कारुणिक, आदि नामों से पुकारना ठीक है। वह केवल ज्ञानात्मक नहीं परंतु ज्ञान का अधिष्ठाता, ज्ञाता, है। परंतु उसके सिवा और किसी वस्तु का अभाव होने से वह अपना आप ही ज्ञेय है। वह अपने स्वरूप को जानता है और यह जानता है कि मैं अपने स्वरूप को जानता हूँ। उसकी शक्ति, पराशक्ति को माया कहते हैं। वह ईश्वर से भिन्न है और ईश्वर के निःसीम ज्ञान का ही—वस्तुतः ज्ञान बल है—दूसरा नाम है। श्री नासदीय-सूक्त में उसको स्वधा कहा है।

जिस समय अव्याकृत—अर्थात् एकरस, भेदरहित—ईश्वर व्याकरणोन्मुख होता है, अनेकता की ओर झुकता है उस समय उसकी हिरण्यगर्भ संज्ञा होती है, क्योंकि यह हिरण्य(स्वर्ण)नामी विश्व उसके गर्भ से बहिर्गत होता है। सच पूछिए तो यहीं से सृष्टिक्रम आरंभ होता है। हिरण्यगर्भ को ईश्वर का सक्रिय रूप कह सकते हैं। महाब्रह्म और प्रजापति भी उनके नाम हैं। उनकी शक्ति का नाम महासरस्वती है। महासरस्वती ज्ञान की देवता* हैं। वह जगत् की समस्त विभूतियों, सारे प्रेरक नियमों, अणु और स्थूल सभी वस्तुओं के ज्ञान और इन सब पर ज्ञान-जनित अधिकार की अधिष्ठात्री है। दूसरी दृष्टि से यह माया, अज्ञान से अभिन्न है क्योंकि जितना ही विश्व का ब्योरा बढ़ता जाता है उतना ही शुद्ध ब्रह्म-स्वरूप पर पर्दा पड़ता जाता है।

हिरण्यगर्भ से पुरुष और प्रधान (मूल प्रकृति) की अभिव्यक्ति हुई। पुरुष स्वयं इच्छा-राग-द्वेष-प्रयत्न से रहित, साक्षी, चेतन है परंतु प्रधान के संयोग से अपने को कर्ता, भोक्ता समझने लगता है और सुख-दुख का अनुभव करने लगता है। प्रधान जड़ है और उसी से अंतःकरण, इंद्रियगण और महाभूतों की उत्पत्ति हुई है। उसका और पुरुष का संयोग वास्तविक नहीं है, फिर भी जिस प्रकार रंगीन प्रकाश के सामने पड़ने से स्फटिक पर रंग की आभा प्रतीत होती है उसी प्रकार पुरुष भी प्रधान और उसकी संतति के धर्मों से उपरक्त प्रतीत होता है। इस मोह के वश में पड़ने पर उसकी जीव संज्ञा होती है। जीव अनेक लोकों में और अनेक

---

* हिंदी में लोग बहुधा बोलचाल में 'देवता' को देवी का पुल्लिंग रूप मानकर प्रयोग करते हैं। यह भूल है। देवी का पुल्लिंग देव है। देवता शब्द का विशेष संबंध वैदिक वाङ्मय और मंत्रशास्त्र से है। वहाँ इसका प्रयोग किसी देव-देवी के विग्रह नहीं, वरन् उसकी शक्ति के लिये होता है। देवता नित्य स्त्रीलिंग शब्द है। प्रत्येक वेदमंत्र के साथ ऋषि, छंद, विनियोग और देवता का उल्लेख रहता है। वहाँ इस प्रकार का प्रयोग होता है: इस मंत्र की देवता इंद्र या रुद्र या विष्णु हैं। वहाँ तात्पर्य ऐंद्री, वैष्णवी या रौद्री शक्ति से है।

शरीरों में जन्म लेकर मरता है, फिर भी वह इस कर्मव्यूह के बाहर निकलने में असमर्थ सा प्रतीत होता है। परंतु वस्तुतः निराश होने की बात नहीं है। जीव कभी भी अपने शुद्ध रूप का परित्याग नहीं कर सकता। प्रत्येक क्षण में उसका प्रत्येक काम दो शक्तियों के संघर्ष का परिणाम होता है; एक ओर उसका सहज, मुक्त, स्वरूप—दूसरी ओर कर्मविपाकजन्य परिस्थितियों का योगफल। कभी ऐसा भी दिन आता है जब उसकी सहज शक्ति परिस्थिति से बलवत्तरा हो जाती है और वह जगत् से पराङ्मुख हो जाता है। तब वह धीरे धीरे उस मार्ग पर लौट चलता है जिस पर चलकर इतना नीचे गिरा था। जिस क्रम से बंधन पड़े थे, उसी के उलटे क्रम से ढीले होते हैं। अंत में वह अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस अंतर्मुख चाल को ही योगाभ्यास कहते हैं।

सूक्त में पुरुष और प्रधान की अभिव्यक्ति के पीछे का ब्योरा नहीं दिया गया है। इतना बतला देना आवश्यक होगा कि इस पुरुषप्रधानात्मक जगत् की समष्टि का नाम विराट् है। सांख्यमत के प्रवर्तक महामुनि कपिल तथा उनके शिष्य-प्रशिष्य आसुरि, पंचशिख, ईश्वरकृष्ण प्रभृति ने प्रधान से क्रमशः महत् और अहंकार और फिर अहंकार से मन, इंद्रियगण तथा तन्मात्रा और तन्मात्राओं से महाभूतों की उत्पत्ति विस्तारपूर्वक दिखलाई है। जहाँ सांख्य हाथ खींचता है वहाँ से इस कथा को मनोविज्ञान, जीवशास्त्र, गणित और भौतिक विज्ञान उठाते हैं। इस जगह उन बातों का ब्योरेवार कथन अनावश्यक है। सृष्टिक्रम के चित्र को पूरा करने के लिये इतना संकेत अलम् है।

यहाँ पर एक शंका हो सकती है। ईश्वर या हिरण्यगर्भ की प्रवृत्ति सृष्टि की ओर क्यों हुई? इसका एक उत्तर तो यह हो सकता है कि ईश्वर का लक्षण ही है 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः'—चाहे जैसी इच्छा हो वैसा करने में समर्थ। उसकी इच्छा स्वतंत्र है, उसमें 'क्यों' का प्रश्न उठता ही नहीं। पर एक दूसरा उत्तर भी है। एक ऐसा समय आता है जब ब्रह्मांड पुराना हो उठता है, वह कर्म और भोग के योग्य नहीं रह जाता। उस समय उसके नीचे के लोक—जिनमें मनुष्य, पितृ और देवगण रहते हैं—सूक्ष्म

भूत में समा जाते हैं और सूक्ष्मभूत मन के साथ अहंकार में लीन हो जाता है। अतः वे लोक भी, जो मानस तत्त्व से निर्मित हैं, विलीन हो जाते हैं। जीवों के कर्मों का क्षय तो नहीं होता परंतु कर्म और भोगभूमि के अभाव से उनके संस्कार बुद्धि के पटलों में टिक जाते हैं और जीव प्रसुप्त सी दशा को प्राप्त हो जाते हैं। यही प्रलयावस्था है। काल पाकर ये संस्कार फिर जागते हैं और इनके अनुसार नए ब्रह्मांड का सृजन आवश्यक हो जाता है। जीवों के कर्मसंस्कारों का योग नूतन जगत् की सृष्टि का प्रवर्तक होता है। इस विषय का चर्चा आगे चलकर भी होना है। इसलिये यहाँ विस्तार के साथ दुहराना ठीक नहीं प्रतीत होता।

इस संक्षिप्त रूपरेखा में इस गंभीर विषय का यथोचित वर्णन नहीं हो सकता। मैंने तर्क न करके केवल एक चित्र खींच देने का प्रयत्न किया है। उद्देश्य इतना ही था कि मंत्रों के भाव को समझने में सुविधा हो और जिस पीठिका के सामने इस विषय का अध्ययन होना चाहिए उसका कुछ परिचय हो जाय। इतनी आशा अवश्य करता हूँ कि मैंने अपनी जानकारी में सूक्त के अर्थ और वेदांत या सांख्य के सिद्धांतों को वितथ रूप से नहीं दिखलाया है।

एक शंका का और समाधान करना आवश्यक है। कुछ लोग यह आपत्ति करते हैं कि जब यह जगत् मिथ्या, मायामय है तो फिर पढ़ना, लिखना, योग, तप, दान या किसी अन्य प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ है। उनको सोचना चाहिए कि जिन आचार्यों ने जगत् को मायामय बतलाया है उन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का भी विधान किया है। दोनों बातों में जो विरोध है वह तो उनकी भी समझ में आना चाहिए था। बात यह है कि वस्तुतः विरोध नहीं, विरोधाभास है। जगत् को मिथ्या मिथ्या कहने मात्र से उसका मिथ्यात्व प्रतीत नहीं होता। तर्क करने से ब्रह्म के स्वरूप के संबंध में शास्त्रार्थ तो किया जा सकता है, पर साक्षात्कार नहीं हो सकता और जब तक साक्षात्कार नहीं होता तब तक सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। रागद्वेष का पुतला 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर मुक्त नहीं हो सकता और न माया को कोसने से उसके जाल से

निकल सकता है। उसे तो जगत् को सत्य मानकर ही काम करना है, पर काम ऐसा करना है जिससे बंधन की शृंखला ढीली हो। जितना ही निष्काम बुद्धि से सत्कार्य्य किया जायगा उतना ही 'मैं, पराया' का भेद क्षीण होगा और योगानुष्ठान द्वारा स्वरूप-दर्शन की पात्रता प्राप्त होगी। जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया उसके लिये न कोई विधि है न निषेध। वही जगत् के सच्चे स्वरूप का अनुभव करता है और उसको मिथ्या कहने का सच्चा अधिकारी है। इसके पहिले, हाथ पर हाथ धरकर बैठना कोरा आलस्य है और वेदांत की विडंबना है।

(ख) श्री नासदीय-सूक्त-भाष्य

सृष्टिसंबंधी प्रश्न तो ऋग्वेद में यत्र तत्र कई बार उठाए गए हैं। जैसे दशम मंडल का इकतीसवाँ सूक्त पूछता है "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः"—वह कौन सा वन था और कौन सा वृक्ष था जिससे काटकर द्यावा-पृथिवी बनाए गए? इसी प्रकार दशम मंडल का एक सौ इक्कीसवाँ सूक्त पृथिवी, द्युलोक, सूर्य्य, जल, पर्वत आदि के स्रष्टा के विषय में बार बार पूछता है "कस्मै देवाय हविषा विधेम"—हम किस देव को हवि अर्पित करें? प्रश्नों के साथ स्थल स्थल पर उत्तर भी दिए गए हैं, पर वे उत्तर अति संक्षिप्त और अपर्य्याप्त हैं। नासदीय सूक्त में इस त्रुटि की पूर्ति की गई है, यह इसका विशेष महत्त्व है।

इस सूक्त का छंद त्रिष्टुप् और ऋषि परमेष्ठी प्रजापति हैं। परमात्मा इसकी देवता हैं।

मंत्र

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ १॥

भावार्थ

उस समय न तो असत् था, न सत् था। न पृथिवी थी, न आकाश था और न वह था जो आकाश के ऊपर है। आवरण कहाँ था? किसका कहाँ स्थान था? क्या गहन गंभीर जल था?

भाष्य

मैं रूप-रेखा में लिख चुका हूँ कि ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। इसलिये सृष्टिक्रम का वर्णन ईश्वर से ही आरंभ होता है। पहिले ही एक कठिनाई का सामना पड़ता है। शब्दों के द्वारा उसको व्यक्त करना कठिन होता है जो हमारे साधारण अनुभव का विषय नहीं है। ईश्वर काल के परे है, इसलिये उसके लिये 'उस समय' 'इस समय' कहना अहेतुक है। मंत्र में 'उस समय' से तात्पर्य्य आज से बहुत पहिले के किसी समय-विशेष से नहीं है। इन शब्दों द्वारा उस अवस्था की ओर संकेत किया गया है जो जड़-चेतन और चर-अचर के उस संघटन का पूर्व-रूप थी जिसे हम जगत् कहते हैं।

यदि सत् और असत् का प्रयोग यहाँ कोष और व्याकरण सम्मत 'होने' और 'न होने' के अर्थ में हुआ है तब तो यह कहना कि न सत् था न असत् था निरर्थक वाक्य हो जाता है। फिर यह श्रुत्यंतर के विरुद्ध भी है। जैसे छांदोग्योपनिषत् में लिखा है 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्'—हे सोम्य, आरंभ में यह सत् ही था। अतः यहाँ कुछ दूसरा ही अर्थ होना चाहिए। ईशावास्योपनिषत् में प्रधान को 'असंभूति' शब्द से लक्षित किया है। असत् का भी वही अर्थ है। इससे यह निकला कि पुरुष के लिये सत् आया है। उस अवस्था में पुरुष और प्रधान, द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य, का विभेद नहीं था। केवल एक अव्याकृत, ईश्वर था। इतना ही कहना पर्याप्त होता परंतु कुछ और वस्तुओं का नामोद्देश करके बात अधिक स्पष्ट कर दी गई है। पृथिवी और आकाश अर्थात् भूर्लोक और स्वर्लोक न थे। अतः इनके बीच का भुवर्लोक भी न रहा होगा। वह भी न था जो व्योम के ऊपर है अर्थात् ऊपर के महर्लोकादि भुवन भी न थे।

इसके आगे जो प्रश्न किए गए हैं उन सब का एक ही उत्तर है और वह नञात्मक है। अतः प्रश्न के व्याज से अपना उपर्युक्त कथन ही दृढ़ किया गया है। आवरण अर्थात् सब भुवनों को ढँकनेवाला ब्रह्मांड भी नहीं था। कहाँ किसका स्थान था अर्थात् किसी का कहीं स्थान नहीं था। कोई दिग्व्याप्त वस्तु थी ही नहीं, स्थान किसका होता? फिर दिक् तो था ही

नहीं, स्थान कहाँ होता ? दिक् के अभाव को बतलाने से काल का अभाव भी सूचित हो जाता है। जल सभी भौतिक पदार्थों के लिये उपलक्षण मात्र है। जल नहीं था, कहने का अर्थ यह हुआ कि कोई भौतिक पदार्थ नहीं था। जल को विशेषतया इसलिये चुना है कि जल के अभाव से यह सूचित होता है कि उस अवस्था मे ऐसी परिस्थिति न थी जिसमें प्राणधारी रह सकते। जीवशास्त्रियों का ऐसा विश्वास है कि पहिले पहिले जीव जल में उत्पन्न हुए। इसका समर्थन कई जगह वैदिक वाङ्मय में हुआ है।

मंत्र

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥ २ ॥

भावार्थ

उस समय न मृत्यु थी न अमृत था। न रात-दिन का प्रकेत (चिह्न) था। वह एक अपनी स्वधा से वायु के बिना साँस लेता था। उसके सिवा और कुछ नहीं था।

भाष्य

पहिले मंत्र में कही बातों का इस मंत्र में विस्तार किया गया है। जब कोई प्राणी ही नहीं था तो मृत्यु और अमरत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। परंतु ये दोनों शब्द संभवतः कुछ दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ईशावास्योपनिषत् में 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' में जीवों के साधारण विनश्वर ज्ञान और कर्म को मृत्यु कहा है और कठोपनिषत् में देवपदप्राप्ति को अमृतत्व कहा है। मृत्यु और अमृत के अभाव को बतलाकर यह सूचित किया गया है कि जीवों के ज्ञान और कर्म दोनों की गति अवरुद्ध थी; क्योंकि भोग और कर्म क्षेत्रों का अभाव था और जीव प्रसुप्तावस्था में थे। दिन-रात के प्रकेत के अभाव का यह तात्पर्य हुआ कि उस समय दिन-रात न थे; किसी प्रकार की गति, घटनाओं का प्रवाह न था। दूसरे शब्दों में काल न था। इस वाक्य का कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि दिन-रात के विभाजक का चिह्न न था। इसका अर्थ यह हो सकता है कि या तो पूर्ण अंधकार था, या पूर्ण प्रकाश। ये दोनों शब्द लाक्षणिक ही हो सकते हैं; क्योंकि ईश्वर के लिये अँधेरे-उजाले का प्रश्न नहीं उठता।

श्रुति कहती है 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'—उसका ज्ञान, बल और कर्म स्वाभाविक है अर्थात् स्वतंत्र है, किसी साधन और बाहरी प्रेरणा की अपेक्षा नहीं करता। यही बात इस वाक्य द्वारा व्यक्त की जा रही है कि वह अपनी स्वधा से वायु के बिना साँस लेता था। यह उसकी सर्वशक्तिमत्ता का सूचक है। साँस शब्द के प्रयोग से एक और अर्थ निर्गत होता है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया जीवन की सहचारिणी है। जहाँ जीवन होता है वहाँ संवित, चेतनता की भी अभिव्यक्ति होती है। छोटे से छोटे जीव में भी बाह्य आघातों की प्रतिक्रिया देख पड़ती है। जो साँस लेता है वह चेतन होता है। अतः यहाँ यह सूचित होता है कि ईश्वर ब्रह्म की भाँति चेतना मात्र नहीं, चेतन, शुद्ध ज्ञान नहीं, वरन् ज्ञाता है। किसी अन्य वस्तु के अभाव में वह अपने आप का ही ज्ञाता हो सकता है। वह स्वयं ज्ञाता और ज्ञेय है*।

मंत्र

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥३॥

भावार्थ

पहिले तम से ढका तम था। यह सब अप्रकेत सलिल था। जो अभु (सब कुछ या विभु) था वह तुच्छ से ढका हुआ था। उसके तप की महिमा से वह एक उत्पन्न हुआ।

---

* ऊपर मंत्र में जो स्वधा शब्द आया है उसका अर्थ हुआ वह जो अपने आपको धारण करे, अर्थात् जो निराधार हो, जिसका कोई दूसरा आश्रय न हो। स्त्रीलिंग होने से यह शब्द ईश्वर की शक्ति, उसकी ईश्वरता, के लिये—जिसे शाक्त वाङ्मय में आद्या या परा शक्ति कहते हैं—प्रयुक्त माना जाता है। यही शब्द फारसी में खुदा हो गया। ईरानी में खुदा रूढ़ि है। इसकी कोई व्युत्पत्ति नहीं बतलाई जा सकती। भाव वही निराधारता का है, परंतु प्रयोग पुंल्लिग में होता है और वह भी गुण के स्थान में गुणी के लिये, शक्ति के स्थान में शक्तिमान्, ईश्वर, के लिये। यह उन शब्दों में से है जो उस समय से चले आते हैं जब भारतीय और ईरानी आर्यों के पूर्वज एक साथ रहते थे।

भाष्य

तम का अर्थ अंधकार और निष्क्रियता, जड़ता, अपरिवर्तनशीलता होता है। इसलिये यह शब्द लाक्षणिक रूप से ब्रह्म और माया दोनों के लिये प्रयुक्त हो सकता है। अतः ईश्वर तम से ढका तम हुआ क्योंकि वह माया-शबल ब्रह्म है। जड़ अज्ञान-स्वरूपा माया जो ज्ञान से नष्ट हो सकती है तुच्छ भी कही जा सकती है। उसके विरुद्ध ब्रह्म अभु अर्थात् सब कुछ है। अन्यत्र श्रुति कहती भी है, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—सचमुच यह सब ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द बृह् धातु से निकला है। उसका अर्थ है विस्तृत, फैला हुआ। इस कारण दिक् से परे होते हुए भी उसे व्यापक कह सकते हैं। अतः दोनों प्रकार से अभु शब्द ब्रह्मवाची है। इसलिये तुच्छ से ढका हुआ अभु, यह पद ईश्वर के लिये ही आया है। इस वाक्य का यह भी अर्थ किया जाता है कि सब कुछ अमूर्त और शून्यवत् था*। सलिल जल को कहते हैं। पहिले मंत्र में जल का अभाव सूचित किया जा चुका है। अतः यहाँ सलिल का अर्थ सलिलवत् जलवत् करना होगा। अपने स्वरूप से जल अप्रकेत, विभागहीन, चिह्नहीन, भेदलिङ्गहीन है। उपाधियों में पड़कर वह बूँद, पुष्कर, नदी, समुद्र, भाप, हिम आदि बनता है, परंतु स्वतः इन सबसे परे है। इसी प्रकार उस समय ईश्वर, जो पीछे से नाना नामरूप-धारी हो गया, एकरस था।

उस ईश्वर के तप की महिमा से उस एक अर्थात् हिरण्यगर्भ का जन्म हुआ। कुछ पाश्चात्य विद्वान् तप का अर्थ गर्मी करते हैं। पर ऐसा करने से तो कोई सहायता नहीं मिलती। ईश्वर में गर्मी कहाँ से आई? अन्यत्र श्रुति कहती है 'तस्य ज्ञानमयं तपः'—उसका तप ज्ञानमय है। ईश्वर का जो जगद्विषयक ज्ञान है वही उसका तप था। 'उसने तप किया' का अर्थ

---

* अभु की जगह आभु पाठ भी लिया जा सकता है। उस दशा में तुच्छ्य तथा आभु दोनो का एक ही अर्थ शून्य लेकर यह व्याख्या की जाती है कि शून्य से ढका शून्य था। इस व्याख्या के अनुसार शब्दांतर से तम से ढके तम वाली बात दुहराई गई है।

यह है कि उसके चित्त में—यद्यपि उस सर्वसाधनस्वतंत्र के संबंध में चित्त शब्द का प्रयोग अयुक्त है—जगदात्मक विज्ञान स्फुरित हुआ, भावी जगत् का स्वरूप उदित हुआ। ईश्वर की चेतनाभूमि से विचार, बौद्धिक लहरी के रूप में जगत् अंकुरित हुआ। इसके फलस्वरूप हिरण्यगर्भ प्रकट हुए।

मंत्र

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीत्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥

भावार्थ

पहिले उसके मन से काम उत्पन्न हुआ, तब वह जो प्रथम बीज था। कवियों ने अपने हृदयों में मनीट् के द्वारा ढूँढ़कर असत् में सत् के स्थान को पाया।

भाष्य

हिरण्यगर्भ वस्तुतः ईश्वर से अभिन्न है। उसको ईश्वर का सक्रिय रूप, वह रूप जिसमें इस जगत् का स्रष्टा, पालयिता और संहर्ता है, कह सकते हैं। उसको प्रजापति भी कहते हैं। हिरण्यगर्भ का नाम वेद बारंबार लेता है। उदाहरण के लिये दशम मंडल के १२१वें सूक्त का पहला मंत्र देखिए—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्

आदि में हिरण्यगर्भ था। जन्म लेने पर, वह भूतों का एकमात्र स्वामी था। उसने पृथिवी और आकाश को स्थापित किया।

उसके मन से (या में) अर्थात् उसकी चेतना में काम उत्पन्न हुआ, एक इच्छा उठी। इस इच्छा को श्रुति ने कहीं काम, कहीं ईक्षा कहा है। उसका स्वरूप अन्यत्र स्पष्ट कर दिया गया है। जैसे छांदोग्योपनिषत् में कहा है 'तदैक्षत बहु स्याम्' उसने इच्छा की कि मैं बहुत, अनेक हो जाऊँ। प्रश्न यह है कि ऐसी इच्छा क्यों हुई। कोई कोई सूफी यह कहते हैं कि उसको अपने को देखने की इच्छा हुई, इसलिये उसने अपने अनेक रूप बनाए। पर यह आत्मानुरक्ति भी तो दोष ही है। लीला करने की इच्छा भी निर्दोष नहीं है। आप्तकाम पूर्ण पुरुष में ये बातें न होनी चाहिएँ।

बात यह है कि इस प्रसंग में काम या इच्छा शब्द दो संबंधों में प्रयुक्त हुआ है—(१) हिरण्यगर्भ का जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और विनष्टि विषयक ज्ञान, (२) उसका संकल्प कि अब यह परंपरा चल निकले, जगत् जो उसको चेतना में अब तक सूक्ष्म विज्ञान रूप से विद्यमान था अब मूर्त हो, विश्व का सृजन आरंभ हो। इस संकल्प का कारण यह था कि जीवों का संयुक्त अदृष्ट, उनके प्राक्तन कर्मों का सम्मिलित संस्कार अब पक गया था। अब तक जीव हिरण्यगर्भ में सिमटे हुए थे, अब उनको जगना था और अनुकूल कर्म और भोग सामग्री चाहिए थी। यह संस्कार ही भावी सृष्टि को नोदन दे रहे थे, उसके प्रेरक बन रहे थे। उन्हीं के कारण हिरण्यगर्भ ने सृष्टि-परक संकल्प किया। इससे ईश्वर की स्वतंत्रता में बाधा नहीं पड़ती। वह स्वयं नियम और स्वयं नियामक है। कर्म का अनुच्छेद्य विधान उससे अभिन्न है, इसलिये यह नहीं कह सकते कि वह अपनी स्वतंत्रता में आप बाधा डालता है। जिस प्रकार चुंबक की सन्निधि में लोहे के छोटे टुकड़े अपने आपको एक विशेष प्रकार से जमा लेते हैं उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के सान्निध्य से जीवों के कर्म जगत् की रचना कर लेते हैं। इतने में ही उसका स्रष्टापन है। यदि यह माना जाय कि वह जीवों को रचता है और अपनी इच्छा के अनुसार जगत् बनाता है तो फिर जीवों के सुख-दुःख और उनके भले-बुरे कामों का पूरा पूरा दायित्व उसके ऊपर आ जायगा।

काम के बाद हिरण्यगर्भ से प्रथम बीज, विराट् की उत्पत्ति हुई। जिस प्रकार विशाल वट-वृक्ष छोटे से बीज में बंद रहता है उसी प्रकार यह महान् विश्वरूपी वृक्ष विराट् में स्थित था।

विराट् की अभिव्यक्ति के पीछे विकास का वेग बढ़नेवाला है और स्थूलता में उत्तरोत्तर वृद्धि होनेवाली है इसलिये यह आवश्यक है कि परम-तत्त्व की ओर से ध्यान हटने न पाए, नानात्व के भीतर एकत्व का दर्शन होता रहे। इसी लिये मंत्र कहता है कि कवियों ने असत् अर्थात् माया में सत् अर्थात् ब्रह्म के स्थान को पाया। ब्रह्म का कोई दूसरा स्थान तो है नहीं, उसका साक्षात्कार करना, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ ऐसा अनुभव करना ही उसके स्थान की प्राप्ति है। यदि यह माना जाय कि यहाँ सत्

और असत् प्रथम मंत्र की भाँति पुरुष और प्रधान के लिये आए हैं तो यह अर्थ हुआ कि कवियों ने प्रधान में पुरुष को पाया अर्थात् प्रधान की महत् इत्यादि विकृतियों के जाल में घिरे हुए पुरुष का साक्षात्कार किया, अर्थात् मुक्त हुए। कवि शब्द वेदों में रसात्मक वाक्यों के रचयिताओं के लिये नहीं वरन आत्मदर्शी योगियों के लिये आता है। स्वयं ईश्वर को कवि कहा गया है। इस वाक्य का कुछ लोग यों भी अर्थ करते हैं कि कवियों ने सत् और असत् का संबंध पाया या जाना। इससे भी भाव में कोई अंतर नहीं पड़ता। सत् और असत् का संबंध जान लेने पर भी उसी एकत्व का अनुभव होगा। सब प्रतीतियों के भीतर वही एक सत्ता झलकती है। यजुर्वेद के नरमेधाध्याय का १९वाँ मंत्र कहता है—"प्रजापतिश्चरति गर्भे अंतरजायमानो बहुधा विजायते।" अजन्मा होकर भी प्रजापति गर्भ में जाता है और बहुधा जन्म लेता है।

इसी प्रकार मुंडकोपनिषत् कहती है :

यथा सुदीप्तात्पावकात्स्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

जिस प्रकार प्रदीप्त आग से सहस्रों चिंगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार उस अक्षर से विविध वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और उसी में लीन होती हैं।

सत् इतनी उपाधियों से घिरा प्रतीत होता है कि उसे पाना सुकर नहीं है। उसका स्वरूप ऐसा छिपा है कि उसे कई जगह 'गुहाहित', गुफा में छिपा कहा है। कवियों ने उसका अनुसंधान मनीट् द्वारा किया। शंकराचार्य्य ने मनीट् की इस प्रकार व्याख्या की है—"मनसः संकल्पादिरूपस्येष्टे नियंतृत्वेनेति मनीट् तयाऽविकल्पयिष्या मनीषेति"—जो संकल्प-विकल्प रूपी मन का नियंत्रण करती है उस अविकल्पयित्री को मनीट् कहते हैं, अर्थात् शुद्ध असंदिग्ध ज्ञान देनेवाली बुद्धि मनीट् है। योगदर्शन के अनुसार योगी को अभ्यास के प्रताप से ऋतंभरा प्रज्ञा, सत्य से परिपूर्ण बुद्धि प्राप्त होती है। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि यह अद्वैत ज्ञान तर्क से नहीं प्रत्युत योगाभ्यास द्वारा परिष्कृत बुद्धि से ही हो सकता है। हृदय शब्द भी बाहरी विषयों से हटाकर वृत्ति को अंतर्मुख करने की ओर संकेत करता है।

यहाँ पर कुछ लोगों को यह शंका होती है कि सारा ब्रह्म या ईश्वर विराट् और जगत् में परिणत हो गया या कुछ परिणत हुआ और कुछ शुद्ध ईश्वर रह गया। पहिले तो ब्रह्म के लिये परिणाम या परिवर्तन का प्रयोग नहीं किया जा सकता। उसमें जगत् का अध्यास मात्र है, अर्थात् हम अज्ञानवशात् जगत् का आरोप करते हैं। फिर, टुकड़े वहाँ होते हैं जहाँ कम से कम दो वस्तुएँ हों—एक विभाजक, दूसरी विभाज्य। ईश्वर अकेला है, फिर उसके खंड कैसे हो सकते हैं? उसके संबंध में अंश और अंशी का व्यवहार इसी लिये होता है कि हमारी बुद्धि और भाषा में सूक्ष्म तत्त्वों को ग्रहण करने और व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इस संबंध में नीचे के दोनों मंत्रों के अर्थ पर मनन करना चाहिए :—

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि ॥ (ऋक् १०,९०-३)

यह सब उसकी महिमा है, (विराट्) पुरुष इससे बड़ा है। उसके एक चौथाई में सारा विश्व है, तीन चौथाई अमृत है और द्युलोक में है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमदाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह (ईश्वर) पूर्ण है, यह (जगत् या प्रत्यगात्मा) पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकाला जाता है। पूर्ण से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही बचता है।

विराट् ईश्वर से अभिन्न है, ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा श्रुति बारंबार प्रतिपादित करती है। विराट् का वर्णन करते हुए, यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का १८वाँ मंत्र कहता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

मैं तम से परे विद्यमान तेजःस्वरूप उस महान् पुरुष को जानता हूँ। उसको जानकर ही मृत्यु के पार जाता है, मोक्ष के लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

मंत्र

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥

भावार्थ

इनकी किरण तिरछी फैली, नीचे थी, ऊपर थी। बीजधारक थे, बड़ी शक्तियाँ थीं। स्वधा नीचे थी, प्रयति ऊपर था।

भाष्य

इसके पहिले के मंत्र में विराट् को प्रथम बीज कहा है। एक ओर तो वह इस संपूर्ण जगत् में जो कुछ स्थावर जंगम, जड़ चेतन है उसकी समष्टि है, दूसरी ओर ईश्वर की ही अभिव्यक्ति होने से इस जगत् में सर्वत्र व्याप रहा है और, साथ ही, इसके बाहर भी है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०म मंडल के १९०वें सूक्त) के प्रथम दो मंत्र कहते हैं :—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

(विराट्) पुरुष सहस्रों सिर, सहस्रों आँख, सहस्रों पाँव वाला है। वह ब्रह्मांड को चारों ओर से व्याप्त करके दशांगुल को अतिक्रमण करता है (अर्थात् इस दस दिशाओंवाले जगत् के बाहर है)।

जो कुछ हुआ है और जो कुछ होगा वह पुरुष ही है। वह अमृतत्व का स्वामी है और इस भोग्य जगत् के बाहर जाता है।

इसी सूक्त में आगे चलकर दिखलाया है कि किस प्रकार सभी ऊँचे नीचे भुवन, सूर्य्यादि खेचर पिंड, सभी मनुष्य और अन्य प्राणी उसके शरीर के अवयव हैं।

जब जगत् का विकास होता है तो वह ऊपर, नीचे, तिरछे, दिक् की सारी दिशाओं में और आगे पीछे काल की दोनों दिशाओं में फैलता है। इसके साथ ही उसकी अनेकता, उसके अंगभूत द्रव्यों का नानात्व, भी बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि उनको गिनना असंभव है। परंतु विश्लेषण करने से इस नानात्व के भीतर दो पदार्थ मिलते हैं : पुरुष और प्रधान। पुरुषों की संख्या का अंत नहीं है। पुरुष ही जगत् का केंद्र है। यदि उसको अपने कर्मों के अनुसार कर्म और भोग-

क्षेत्र की आवश्यकता न हो तो विश्व का सृजन ही न हो। इसी लिये पुरुष को बीजधारक कहा है। प्रधान अंतःकरण, इंद्रियगण और भौतिक द्रव्यों का उपादान कारण प्रकृति है। उसी में से ये सब निकली हैं और स्वयं सत्त्व, रज और तम नामक गुणों की साम्यावस्था है। उसको 'महाशक्तियाँ' कहा है। स्वधा का अर्थ अन्न है। प्रयति कहते हैं यत्न करनेवाले को। स्पष्ट ही है कि यहाँ इन शब्दों का अर्थ है भोग्य और भोक्ता। प्रधान भोग्य, पुरुष भोक्ता है। निर्लेप होते हुए भी प्रधान के सान्निध्य में पुरुष अपने में कर्तृत्व, भोक्तृत्व का आरोप कर लेता है। ऊपर और नीचे के स्थान में कुछ लोग 'इस ओर', 'उस ओर' अर्थ करते हैं। इससे भी भाव में कोई विरोध नहीं आता; पुरुष और प्रधान का द्रष्टा-दृश्य-संबंध बना रहता है*।

---

* इसके पश्चात् के सृष्टिक्रम पर एक दृष्टि—

सूक्त पुरुष और प्रधान, क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र का उल्लेख करके तूष्णीं होता है। इसके आगे के क्रम का वर्णन सांख्य और विज्ञान करते हैं। एक समय था जब विज्ञान दर्शन से बहुत दूर जा पड़ा था, परंतु आज दोनों के बीच की खाई पटती जाती है। इस स्थान पर मैं ऋग्वेद के दशम मंडल के १६०वें सूक्त की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। वह कहता है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥
सूर्याचंद्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥

(१) उद्दीप्त तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए; तब रात्रि उत्पन्न हुई, उससे समुद्र हुए।

(२) समुद्र से संवत्सर का जन्म हुआ। विश्व के स्वामी ने अपने निमेषोन्मेष से (पलक मारने से) दिन-रात का विधान किया।

(३) विधाता ने अपूर्व के अनुसार सूर्य्य, चंद्र, पृथिवी, स्वर्ग, अंतरिक्ष की कल्पना की।

यह वृत्तांत नासदीय सूक्त में दिए वृत्तांत का पूरक माना जा सकता है। ऋत उस दैवी नियम को कहते हैं जिसके वश में रहकर सब वस्तुएँ अपने अपने धर्म का अनुसरण करती हैं। इसलिये ऋत और सत्य प्रधान और पुरुष को कह

सकते हैं। अथवा बाह्य जगत् की नियामक शक्ति के ऋत और धर्म के, जिसका अनुसरण करके मनुष्य अभ्युदय प्राप्त करता है, सत्य कहा जा सकता है। सृष्टि के प्रसंग में तप शब्द की व्याख्या पीछे तीसरे मंत्र के भाष्य में की जा चुकी है। यदि तप शब्द का प्रचलित अर्थ लिया जाय तो इस पंक्ति का यह भाव भी हो सकता है कि आजानदेवों के तप मे ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। उनके ही इस भूर्लोक का नियंत्रण करना है, अतः वे ही प्राणियों और जड़ वस्तुओं के अपने तपोजन्य प्रभाव से नियमों की शृंखला में रखते हैं।

इसके बाद की पंक्तियों में आज से करोड़ों वर्ष पहिले की उस अवस्था का वर्णन प्रतीत होता है जब पृथिवी घने वाष्प सदृश द्रव्यों के वातावरण से घिरे तप्त पिंड के समान थी। उसका ऊपरी तल ठोस हो गया था परंतु जल रहा था। ऊपर का आवरण ठंडा होता था और नीचे गिरता था, परंतु भूतल पर पहुँचते ही भाप बनकर ऊपर के फेंक दिया जाता था। लाखों वर्षों तक यह अजस्र धारा का बरसना और भापों का तत्काल उछलना, फिर मेघों का बनना और बरसना जारी रहा। ज्योतिषियों का कहना है कि बृहस्पति पर आज यही हो रहा है। वह पृथिवी से बड़ा ग्रह है, इसलिये जो बातें पृथिवी पर थोड़े दिनों में हो गईं उनके उस पर अधिक समय लगना स्वाभाविक है। जब तक यह सब होता रहा तब तक यदि पृथिवी पर कोई होता तो उसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि के दर्शन न हो सकते, चारों ओर घोर अंधकार ही जान पड़ता। उस मोटे आवरण में से प्रकाश की किरणें पार नहीं आ जा सकती थीं। इसी लिये मंत्र में पहिले रात्रि का उत्पन्न होना बतलाया गया है। धीरे धीरे भूतल ठंडा हुआ। तब ऊपर से गिरनेवाला जल उस पर टिकने लगा और समुद्र रूप से जमा होने लगा। इसी लिये रात्रि से समुद्र की उत्पत्ति कही गई है।

जब अधिक मात्रा में गाढ़ी भाप नीचे समुद्र रूप में जमा हो गई तो ऊपर का आवरण आज कल जैसा पारदर्शक हो गया। आकाश में सूर्य्य का राशियों में भ्रमण और सूर्य्य-चन्द्रादि का दैनदिन ध्रुव-परिक्रमण देख पड़ने लगा। दिन-रात का भान हुआ। इसलिये यह कहना उचित है कि समुद्र से संवत्सर और दिन-रात बने। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अपादान कारक (पंचमी विभक्ति) का सूचक प्रत्यय 'से' उत्तर काल का भी बोधक होता है अर्थात् जहाँ यह कहा गया है कि समुद्र से संवत्सर बना, वहाँ यह अर्थ लिया जा सकता है कि समुद्र के पीछे संवत्सर बना।

अंतिम मंत्र यह बतलाता है कि जगत् के स्रष्टा ने सब वस्तुओं की रचना अपूर्व के अनुसार की। कर्मों के संस्कार के अपूर्व कहते हैं। इसका दूसरा नाम अदृष्ट भी है। जिन जीवों के इन नवसृष्ट लोकों में रहना था उनके अपूर्व के अनुसार, उनके भोग और कर्म के उपयुक्त, भूर्लोक आदि के बनाया।

मंत्र

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत, कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥

भावार्थ

कौन जानता है, कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई, किससे उत्पन्न हुई ? देवगण इसकी उत्पत्ति के पीछे हुए, फिर कौन जानता है कहाँ से हुई ।

भाष्य

इस जगत् के मूल में जो ब्रह्म पदार्थ है उसका तथा प्रतीयमान विश्व के सृष्टि-क्रम का ज्ञान, जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ, केवल तर्क से नहीं प्राप्त हो सकता। वह तो निदिध्यासन, योगाभ्यास, द्वारा परिष्कृत बुद्धि में

इसलिये धाता पर मनमानेपन का आरोप नहीं हो सकता। वह यदि दूसरों से नियम-पालन की आशा करता है तो स्वयं भी अपने नियम का, जो वस्तुत: उसके स्वभाव का नामांतर है, पालन करता है। कुछ लोग 'यथापूर्वम्' पद का 'यथा पूर्वम्' विच्छेद करके 'पूर्व के अनुसार' अर्थ लगाते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि धाता ने सूर्यादि को उसी प्रकार बनाया जैसे कि वे पहिले, इससे पहिले के कल्पों, सृष्टिकालों, में बना करते थे। यदि यह अर्थ ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि एक कल्प में दूसरे की पूरी पूरी नकल होती है। असंख्येय जीवों की प्रवृत्तियाँ, उनके प्रवृत्ति-प्रेरित कर्म, उन कर्मों के असंख्य संस्कार, उन संस्कारों से विशिष्ट भोग-सामग्री, इस भोग-सामग्री के अनुकूल लोक और लोकों के अवयव—यह सब कल्पानुकल्प एक से होते जायँ, ऐसा मानना बुद्धिसंगत नहीं प्रतीत होता। अनंत वैषम्य की ओर से आँख बन्द कर लेने पर ही हम ऐसा मान सकते हैं कि किसी कल्प-विशेष की सृष्टि अपने पूर्वकल्प की नकल होती है। अतः मैं 'यथापूर्वम्' का पदच्छेद 'यथा अपूर्वम्' करना ही ठीक समझता हूँ।

मैं यह दावा नहीं करता कि जिस ऋषि ने इस सूक्त को अवतरित किया, उसके सामने वह चित्र था जिसका वर्णन आजकल के ज्योतिषी और भूगर्भशास्त्री करते हैं। मैं केवल इन अद्भुत मंत्रों की ओर ध्यान आकर्षित कराता हूँ। ऋषियों को क्या और कितना ज्ञान था, इसके विषय में प्रत्येक मनुष्य अपना मत स्वतः स्थिर कर ले।

यदि मेरी व्याख्या ठीक है तो इन मंत्रों में जिस अवस्था का वर्णन है वह प्रकृति से महाभूतों के निकलने के पीछे की है। इन दोनों के बीच की जो अवस्था थी उस पर दूसरे भाग में विचार किया गया है।

ही उदित होता है। लाखों मनुष्यों में कोई विरला ही होता है जिसको सच्ची जिज्ञासा होती है और जिज्ञासुओं में भी ऐसे थोड़े ही होते हैं जो उस कठिन मार्ग पर, जिसे श्रुति क्षुरस्य धारम्—छुरे की धार—कहती है, चलने की पात्रता रखते हैं। जिन लोगों ने आत्मानुभव प्राप्त कर भी लिया है, उनमें सबमें इतनी योग्यता नहीं होती कि दूसरों को बोध करा सकें। गुरु का लक्षण यह है कि वह श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो। जिसने श्रवण और मनन करके विषय का अध्ययन किया है, वह श्रोत्रिय है। वह शिष्य की शंकाओं का समाधान कर सकता है। जिसने समाधिस्थ रहकर साक्षात्कार किया है वह ब्रह्मनिष्ठ है। वह शिष्य को मार्ग का उपदेश दे सकता और बीच में आनेवाली कठिनाइयों का निवारण कर सकता है। ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं। यही बात शब्दांतर से कठोपनिषत् में कही गई है :—

"आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः"

इसका कहनेवाला विचित्र है, इसका प्राप्त करनेवाला कुशल है। योग्य गुरु से उपदिष्ट इसका जाननेवाला आश्चर्य का विषय है। ये बातें सबको बतलाई भी नहीं जा सकतीं। सद्गुरु शिष्य की पात्रता की परीक्षा करके ही उसको रहस्य की दीक्षा देता है। प्रश्नोपनिषत् में पिप्पलाद कौसल्य अश्वलायन से कहते हैं "तू बड़े ऊँचे प्रश्न (अति प्रश्नान्) पूछता है परंतु तेरी ब्रह्म में अनुरक्ति है इसलिये मैं तुझे बतलाऊँगा।" जिसको एतद्विषयक जिज्ञासा उत्पन्न हो और सद्गुरु का सत्संग प्राप्त हो वह परम सौभाग्यशाली है।

देवगण भी इस रहस्य को नहीं जानते। देवों के दो भेद हैं। एक तो कर्मदेव, दूसरे आजानदेव। जो मनुष्य अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से स्वर्गादि लोकों में जाते हैं और वहाँ पुण्य के क्षय होने तक रहते हैं उनको कर्मदेव कहते हैं। ये लोग तत्तत् लोक के सुखों का तो अनुभव प्राप्त करते हैं पर उनके अधिष्ठाताओं के अधिकारों के भागी नहीं होते। जो लोग बड़ी उग्र तपस्या करते हैं वे अगले कल्प में दिव्य लोकों में उच्च कोटि के अधिकार और वैभव का उपभोग करते हैं। वे जगत् में ऋत का पालन करते हैं और ऊपर के लोकों के अधिष्ठाता होते हैं। उनको आजानदेव कहते हैं। उनका ज्ञान और बल विशाल है। फिर भी वे सृष्टि के आदि

में तो नहीं ही थे। जब वह सूक्ष्म सामग्री, जिससे उनके शरीर बने हैं, बन गई अर्थात् जब पुरुष और प्रधान की क्रीड़ा आरंभ हो गई उसके बाद ही वे अपने अपने काम में लग सके। यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का २०वाँ मंत्र विराट् के संबंध में कहता है—

यो देवेभ्यऽ आतपति यो देवानाम्पुरोहितः
पूर्वो यो देवेभ्यो जातः।

जो देवों के द्वारा चमकता है, जो देवों के आगे रखा हुआ है, जो देवों से पहिले उत्पन्न हुआ।

प्रथम मंडल के १६४वें सूक्त का ५वाँ मंत्र देवों की एतद्विषयक अज्ञता इन शब्दों में व्यक्त करता है—

पाकं पृच्छामि मं न सा विजानन्देवानामेना निहिता पदानि

मैं अज्ञानी पुरुष यह पूछता हूँ। देवगण भी इसे नहीं जानते। यह उनसे छिपा है।

इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि कोई देव-शरीरधारी ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। साधारणतः तो आजानदेव मुक्त नहीं हैं पर यदि उनमें से किसी में कर्मविपाक से जिज्ञासा उत्पन्न हो तो उनके अपेक्षया शुद्ध अंतःकरणों में ज्ञान का उदय होना कठिन नहीं है। इसके कई उदाहरण मिलते हैं। केनोपनिषत् में एक इंद्र का उमा हैमवती से ज्ञान प्राप्त करना दिखलाया गया है। बृहदारण्यक उपनिषत् में लिखा है कि दैत्यराज विरोचन के साथ किसी इंद्र ने ब्रह्मदेव का शिष्यत्व ग्रहण किया था। विरोचन तो सत्पात्र न था पर इंद्र पूर्ण अधिकारी थे, अतः उनको ज्ञान की उपलब्धि हुई।

मंत्र

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

भावार्थ

यह विसृष्टि कहाँ से हुई, किसने की, किसने नहीं की, जो इसका अध्यक्ष परम व्योम में रहता है, वह यह सब जानता है या, स्यात्, वह भी नहीं जानता।

भाष्य

पहिलेवाले मंत्र के अर्थ का ही इसमें विशदीकरण है। ईश्वर इस जगत् का स्वामी है। 'स्यात् वह भी नहीं जानता' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर का ज्ञान सीमित है; वस्तुतः उसका ज्ञान निःसीम, निर्बाध है। योगदर्शन के अनुसार वह 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'—काल के घेरे से बाहर होने के कारण पूर्व गुरुओं का भी गुरु है। यहाँ उसके संबंध में शंका-सूचक शब्दों का प्रयोग करके विषय की कठिनता और श्रम की आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। पतंजलि कहते हैं कि 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः'—दीर्घकाल तक निरंतर सत्कार के साथ सेवन करने से योग की दृढ़ भूमिका प्राप्त होती है। व्यास भी 'असकृत् अभ्यास', निरंतर अभ्यास, पर जोर देते हैं।

ईश्वर का निवास परम व्योम में है, इस कहने से यह शंका न होनी चाहिए कि उसका कोई पृथक् लोक है। परम व्योम में, व्योम के ऊपर, जैसा कि कुछ लोग अर्थ करते हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि वह दिक्काल के परे है। उस व्योम को जिसमें ईश्वर रहता है, चिदाकाश कहते हैं। वह चेतनात्मक, शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। वह ज्ञान सब ज्ञेय विषयों का अधिष्ठान होने से आकाश की भाँति व्यापक है, इसी लिये उसे व्योम कहते हैं।

अध्यक्ष का व्यावहारिक अर्थ स्वामी है। यों उसका शब्दार्थ है आँख के ऊपर रहनेवाला। आँख इंद्रियों का उपलक्षण है। जो आँख, यानी सब इंद्रियों, के ऊपर, परे, है वह अध्यक्ष है। इंद्रियाँ ज्ञान-साधन हैं। जो ऐसे सब साधनों के परे है, जो उनका विषय नहीं है, वह अध्यक्ष कहला सकता है। इस अर्थ में यह शब्द ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हो सकता है। ब्रह्म के लिये यह कहना अनुचित नहीं है कि वह सृष्टि-संबंधी बातों को नहीं जानता। ब्रह्म सब भेदों से विमुक्त है। ब्रह्मपद में जगत् का अभाव है। ब्रह्म के लिये न कुछ ज्ञेय है, न वह ज्ञाता है। ब्रह्म में सृष्टि और स्रष्टा, द्रष्टा और दृश्य, जड़ और चेतन, ईश्वर और जीव सभी भेदों का विलय हो जाता है।

यह कहकर श्रुति शुद्ध ब्रह्मस्वरूप और, इस व्याज से, ब्रह्मज्ञान-रूपी परम पुरुषार्थ, की ओर संकेत करके अब विराम करती है।

२

दर्शनों में सृष्टिक्रम

(क) समस्या

भारतीय दर्शन की सभी विचारधाराओं में पंचमहाभूत का नाम आता है। संस्कृत तथा प्रचलित भारतीय भाषाओं में लिखे सभी धार्मिक ग्रंथ इनके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और अशिक्षित ग्रामीण तक ऐसा मानता है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जीवधारियों के शरीरों से लेकर नदी, समुद्र, पर्वत, वनस्पति, चंद्र-सूर्यादि आकाशचारी पिंड तक इन भूतों से ही बने हैं। ऐसा समझ में आता है कि जिन शब्दों का प्रचार इतना व्यापक है उनका अर्थ भी स्पष्ट और सर्वसम्मत होगा। परंतु दुर्भाग्य की बात है कि यह कल्पना निराधार है। इतना तो सभी मानते हैं कि आत्मा और चित्त के अतिरिक्त इस जगत् में जो कुछ प्रतीत होता है वह पांचभौतिक है, परंतु भूतों के स्वरूप और अभौतिक जगत् के साथ उनके संबंध के विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं है। जो दर्शन के पंडित हैं वे अपने अपने शास्त्र की परिपाटी पर दृढ़ता से स्थिर हैं। शेष मनुष्य, चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित, इनका प्रयोग बिना कोई ठीक अर्थ लगाए ही कर दिया करते हैं। पर इस वैज्ञानिक युग में महाभूत केवल शास्त्रार्थ का विषय नहीं रह सकते। विज्ञान ने इस संबंध में बड़ी खोज की है और जगत् जिस सामग्री से बना है, उसके विषय में उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। यदि इस क्षेत्र में दर्शन का अपना कुछ वक्तव्य है तो वह ऐसा होना चाहिए जिसका विज्ञान के साथ सामंजस्य हो अन्यथा वह अमान्य होगा।

मेरा ऐसा विश्वास है कि जिन ऋषियों ने भारतीय दर्शन की नींव डाली थी वे योगी थे और उनको एतद्विषयक ज्ञान था। यह ज्ञान उनको समाधि की अवस्था में प्राप्त हुआ था परंतु जब वह उनके शिष्य-प्रशिष्यों में फैला तो अक्षुण्ण न रह सका, इसलिये कि ये लोग उस प्रकार के अनुभव से शून्य थे। उन दिनों विज्ञान की उन्नति तो हुई नहीं थी इसलिये सामान्य जनता के पास इस प्रकार के ज्ञान का कोई साधन न था। यदि ऐसा साधन होता और व्यावहारिक ज्ञान की प्रचुर मात्रा होती तो योगानुभूति से

उत्पन्न ज्ञान उसके साथ एक शृंखला में बाँधा जा सकता और उसकी परंपरा न बिगड़ने पाती। ऐसा न होने से जो कुछ पूर्वज लोग संकेत रूप से कह गए उसका जिससे जो अर्थ लगाते बना लगाया गया। परिणाम यह हुआ कि बुद्धि-विलास और वाग्युद्ध की तो विशाल सामग्री प्रस्तुत हो गई परंतु सत्य कोसों दूर पड़ गया। इतनी भूल आचार्यों ने भी की कि नए पारिभाषिक शब्द रचने के स्थान में उन्होंने अर्थ बदलकर कुछ प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया। ये शब्द अपने पुराने अर्थों से पीछा न छुड़ा सके और पीछे चलकर भ्रामक विचारों के जनक बन गए। दूसरे देशों में भी प्रचलित शब्दों के प्रयोग से बहुत गड़बड़ मचती रहती है।

अब मैं यह दिखलाऊँगा कि महाभूतों के संबंध में हमारे यहाँ कौन कौन से विचार प्रचलित हैं। मुख्यतया वेदांत, सांख्य और वैशेषिक ने इस प्रश्न पर ऊहापोह किया है। मैं जानता हूँ कि वेदांत के अंतर्गत अद्वैतादि कई विभिन्न वाद हैं पर इस संबंध में उनमें कोई बहुत बड़ा मतभेद नहीं है, इसलिये सुविधा की दृष्टि से यहाँ शांकर मत के अनुसार ही प्रतिपादन किया जायगा। वैशेषिक और न्याय का भी आपस में अविरोध है इसलिये जहाँ जहाँ मैंने वैशेषिक न्याय शब्द का प्रयोग किया है वहाँ वहाँ न्याय का भी ग्रहण करना चाहिए।

वेदांत के मत का आधार उपनिषद् का यह वाक्य मानना चाहिए— एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः* इत्यादि। इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से अप् और अप् से क्षिति। आकाश का गुण शब्द है, वायु का शब्द और स्पर्श, तेज का शब्द, स्पर्श और रूप, अप् का शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा क्षिति का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। आत्मा परमात्मा और ब्रह्म से अभिन्न है, अतः यह कह सकते हैं कि पाँचों भूत ब्रह्म से निकले हैं। पर उनकी उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई है। पहले आकाश आविर्भूत हुआ, फिर क्रमात् वायु आदि निकले। यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म अविकारी है परंतु मायावशात् उसमें यह सब प्रतीति होती है।

* तैत्तिरीय उपनिषद्—वल्ली २, अनुवाक १।

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् के मूल में पुरुष और प्रधान हैं। पुरुष चिन्मात्रधर्म्मा और संख्या में अगण्य हैं। प्रधान जड़ और एक है। वह सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों की साम्यावस्था है। पुरुष के सान्निध्य से साम्य भग्न हो जाता है और प्रधान में विकार उत्पन्न होने लगते हैं। पुरुष अविकारी है परंतु जिस प्रकार स्फटिक पर पास में रखे हुए रंगीन प्रकाश की आभा पड़ती है वैसे ही उस पर भी प्रधान के विकारों का कृत्रिम प्रभाव पड़ता है और वह अपने को सुखी, दुःखी, कर्ता, भोक्ता मानने लगता है। प्रधान का पहिला विकार बुद्धि है। बुद्धि से अहंकार निकलता है। अहंकार से एक साथ ही सोलह पदार्थ—पाँच ज्ञानेंद्रिय, पाँच कर्म्मेंद्रिय, मन जो उभयात्मक है अर्थात् ज्ञान और कर्म्म दोनों का साधन है, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—ये पाँचों तन्मात्राएँ। इन तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, अप् और क्षिति इन पाँच महाभूतों की उत्पत्ति हुई। सांख्य सिद्धांत के इस स्वरूप का निरूपण ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका तथा वाचस्पति की सांख्यतत्त्वकौमुदी में किया गया है*।

सांख्य दर्शन ने सृष्टि का जो क्रम बतलाया है वह बड़े महत्त्व का है। थोड़ा सा उलट-फेर करके इस क्रम का वेदांत के साथ समन्वय किया जा सकता है और सच बात यह है कि प्रचलित पुराण-सम्मत वेदांत शांकर अद्वैतवाद और सांख्य मत के सम्मिश्रण से ही बना है।

वैशेषिक के आचार्य्यों का कहना है कि नव नित्य पदार्थ हैं:—क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा। आत्मा के दो भेद

---

* सांख्य की पद्धति यों भी बतलाई जाती है कि अहंकार से शब्द तन्मात्रा का जन्म हुआ। उसमें से आकाश निकला। आकाश से स्पर्श तन्मात्रा और उससे वायु निकला। वायु से रूप तन्मात्रा और रूप से तेज का प्रादुर्भाव हुआ। यों ही अंत में अप् से गंध तन्मात्रा और गंध से क्षिति का जन्म हुआ। इस वर्णन पर वेदांत की जो छाप पड़ी है वह स्पष्ट प्रतीत होती है। मैंने स्वयं इसे ही माना है। इसका विस्तृत वर्णन आगे आएगा। प्रायः सभी पुराणों ने इसे ही स्वीकार किया है। उदाहरण के लिये श्रीमद्भागवत ३रा स्कंध, ५वाँ अध्याय, १८ से ३७ श्लोक देखिए।

हैं, जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा असंख्य हैं, परमात्मा एक है। मन भी असंख्य हैं। प्रत्येक आत्मा के साथ एक मन संबद्ध है। आकाश अखंड और एकरस है। शेष चारों भूतों के बहुत छोटे छोटे टुकड़े हैं, जिनको परमाणु कहते हैं। परमाणुओं के आपस में मिलने से भूतों के बड़े बड़े समूह और पिंड बनते हैं। गौतम और कणाद के सूत्र इस मत के प्रामाणिक आधार हैं। भूतों के गुण वही हैं जो वेदांत दर्शन में बतलाए गए हैं।

इस संक्षिप्त निदर्शन से इन तीन सिद्धांतों का भेद स्पष्ट हो जायगा। वेदांत के अनुसार महाभूत क्रमशः ब्रह्म से निकले हैं और शब्दादि इनके गुण हैं। सांख्य के मत से पुरुष के सान्निध्य में प्रधान में विकार उत्पन्न होता है। तन्मात्राएँ इसी प्रकार की क्रमागत विकार हैं। इनमें से महाभूत निकले हैं। महाभूत एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, अर्थात् इनमें कोई निमित्त-नैमित्तिक संबंध—कारण-कार्य्य संबंध—नहीं है। वैशेषिक कहता है कि पाँचों महाभूत नित्य और स्वतंत्र हैं और शब्दादि इनके गुण हैं। यह भेद नीचे के चित्र से समझ में आ सकता है:—

वेदांत

नित्य पदार्थ

|

ब्रह्म—चिन्मात्र, एक

|

आत्मा—चेतन, अनेक

|

आकाश—गुण-शब्द

|

वायु—गुण-शब्द, स्पर्श

|

तेज—गुण-शब्द, स्पर्श, रूप

|

अप्—गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस

|

क्षिति—गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध

टि०—यदि उपनिषद्-वाक्य का तात्पर्य्य परमात्मा से हो तो ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा कैसे पड़ती है तथा यदि उसका तात्पर्य्य प्रत्यगात्मा से हो तो ब्रह्म शरीरी कैसे बनता है, यह सब वेदांत के प्रामाणिक ग्रंथों में देखना चाहिए।

सांख्य

नित्य पदार्थ

- अनेक पुरुष
- प्रधान एक
  - महत्
    - अहंकार
      - पाँच ज्ञानेंद्रिय
      - मन (ज्ञानकर्म्मात्मक)
      - पाच कर्म्मेंद्रिय
      - शब्द — आकाश
      - स्पर्श — वायु
      - रूप — तेज
      - रस — अप्
      - गंध — क्षिति

अथवा उत्तरार्ध यों भी दिखलाया जा सकता है :—

अहंकार
|
शब्द
|
आकाश
|
स्पर्श
|
वायु
|
रूप
|
तेज
|
रस
|
अप्
|
गंध
|
क्षिति

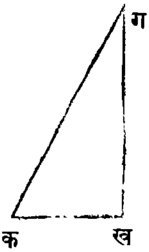
वैशेषिक

नित्य पदार्थ

- आत्मा (अनेक)
  - परमात्मा (एक)
  - जीवात्मा (अनेक)
- मन (अनेक)
- काल
- दिक्
- आकाश (गुण शब्द)
- वायु (गुण, शब्द स्पर्श)
- तेज (गुण, शब्द, स्पर्श, रूप)
- अप् (गुण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस)
- क्षिति (गुण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध)

इन भेदों का निर्देश कर देना ही हमारी समस्या को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। यहाँ केवल कहने के ढंग में भेद नहीं है, प्रत्युत मूल सिद्धांतों में गहरा भेद है। इतना तो कहा जा सकता है कि जिन रूपों में इनका प्रतिपादन होता है उन रूपों में तीनों सत्य नहीं हो सकते। तीन में से एक ठीक हो सकता है या तीनों गलत हो सकते हैं।

वैशेषिक का मत तो बहुत ही स्थूल है। अनात्मवादी पाश्चात्य वैज्ञानिक या समाजवादी दार्शनिक भी इतने अधिक स्वतंत्र पदार्थों की सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं समझता। उनकी परमाणुवाद की सूझ प्रशंसनीय है, परंतु परमाणुओं को त्रसरेणु—सूर्य की किरण में देख पड़नेवाले रजकण—के छठे भाग के बराबर मानना हास्यास्पद है। इससे भी बढ़कर हास्यास्पद उनका यह आग्रह है कि सोना शुद्ध तेज है, उसमें किसी और महाभूत की मिलावट नहीं है। गणित के सहारे से कमलाकर ने परमाणुवाद का जो खंडन किया था वह रोचक है। मान लीजिए कि क ख एक परमाणु है और ख ग दूसरा परमाणु, जो उससे लंब बनाता हुआ खड़ा है। इस दशा में रेखागणित के नियम



के अनुसार क ग^{2} = क ख^{2} + ख ग^{2}

= (१ परमाणु)^{2} + (१ परमाणु)^{2}

= (२ परमाणु)^{2}

अतः क ग = $\sqrt{२}$ परमाणु

= १·४१४..........परमाणु

परमाणुवाद के अनुसार परमाणु के टुकड़े हो नहीं सकते। या तो एक परमाणु हो सकता है या दो हो सकते हैं परंतु १·४१४ अर्थात् लगभग डेढ़ परमाणु नहीं हो सकते। परंतु गणित का सिद्धांत सार्वभौम है, इसलिये क ग की लंबाई १·४१४ परमाणु होनी ही चाहिए। इससे यह निकला कि परमाणुवाद, यानी यह मानना कि भूतों के अंशरूप परमाणु अविभाज्य हैं, निराधार है। मैं नहीं कह सकता कि इस तर्क की तह में जो भूल है उसे पकड़कर परमाणुवाद कहाँ तक अपनी रक्षा कर सका है।

जब से इस देश में विज्ञान का पठन-पाठन आरंभ हुआ तभी से कुछ लोगों का ध्यान इस ओर गया कि आकाशादि की वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार व्याख्या की जाय, पर अभी तक ऐसे प्रयत्न सफल नहीं हुए। साधारण प्रकार से यह समझ में आता है कि क्षिति का अर्थ ठोस अवस्था और अप् का द्रव अवस्था है। यहाँ तक तो बात बन जाती है। इसके पीछे विज्ञान और अपने नित्य के अनुभव के अनुसार वाष्पीय अवस्था आती है। उससे भी सूक्ष्म विद्युद्युक्त कणों की अवस्था होती है। सबसे पीछे आकाश आता है। ऐसा ही मानकर लोगों ने अर्थ किया है पर इसमें अड़चनें पड़ती हैं। पहिले तो आकाश नाम के किसी पदार्थ के होने में वैज्ञानिकों को स्वयं संदेह होने लगा है। फिर वाष्पीय दशा के लिये वायु और विद्युन्मय दशा के लिये तेज नाम कुछ ठीक जँचते हैं, परंतु क्रम में पहिले तेज तब वायु आता है। विज्ञान की दृष्टि में आकाश का शब्द से कोई संबंध नहीं है।

मैं इस निबंध में यह दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि भूतों के नाम और गुणों की ऐसी व्याख्या की जा सकती है जो सांख्य-वेदांत-सम्मत हो और इसके साथ ही विज्ञान के अनुकूल हो। परंतु इस काम को आरंभ करने के पहिले एक और शब्द पर विचार करना आवश्यक है। वह शब्द 'प्राण' है। प्राण का कोई उपयुक्त विदेशी वैज्ञानिक या व्यावहारिक पर्याय नहीं है; कम से कम, मुझे उसका ज्ञान नहीं है। इसलिये इसके संबंध में आधुनिक विज्ञानगत कोई उलझन तो नहीं पड़ती, परंतु अपने पुराने दार्शनिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और वैज्ञानिक वाङ्मय में कठिनाइयाँ पड़ती

हैं। इसकी ठीक ठीक व्याख्या न होने से अर्थ का विपर्यास हो जाता है। इसलिये मैं भूतों के विषय में विचार करने के पहिले प्राण पर ही विचार करूँगा।

आगे के विचार में मैंने बराबर योगशास्त्र और योगियों के अनुभव से सहायता ली है। मैं स्वतः इसको ज्ञान का पुष्टतम साधन मानता हूँ। यह ठीक है कि यह साधन सर्वसुलभ नहीं है, फिर भी इस ज्ञानसामग्री का उपयोग किसी अन्य सामग्री के उपयोग से कम उचित नहीं हो सकता।

(ख) प्राण

प्राण का जिक्र विशेष रूप से योग के ग्रंथों में आता है। योग का चर्चा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से थोड़ा-बहुत सभी उपनिषदों में है। कुछ, जैसे क्षुरिका और वज्रसूचिका, तो योग का मुख्य विषय ही है। पातंजल सूत्र एतत्संबंधी सिद्धांत-ग्रंथ है और व्यावहारिक उपदेश शिवसंहिता, घेरंड-संहिता, हठयोगप्रदीपिका, गोरक्षपद्धति जैसी पोथियों में मिलते हैं। पुराणों में यत्र-तत्र बहुत अच्छा वर्णन है। हिंदी मे कबीर और नानक जैसे महात्माओं की वाणी में पर्याप्त सामग्री मिलती है। इन सबके अतिरिक्त तंत्र-ग्रंथ योग-विद्या के भंडार हैं। लोग आजकल तंत्रों के नाम पर नाक सिकोड़ते हैं और इसमें संदेह नहीं कि उनमें ऊपर से ऐसी बहुत सी बातें देख पड़ती हैं जिनसे जी घबरा उठता है, परंतु वीर कोटि के उपासकों के लिये उनमें शुद्ध योग की शिक्षा है। योग-वाङ्मय के सिवा प्राण का विषय आयुर्वेद के भी अंतर्गत है।

पर खेद की बात है कि जिस शब्द का प्रयोग इतने बड़े बड़े विद्वान् और महात्मा इतने विशद ग्रंथों में इतने आधिक्य से करते हैं उसका अर्थ अंधकार में पड़ा हुआ है। साधारणतः यही समझा जाता है कि प्राण का अर्थ है वायु और वायु का अर्थ है साँस या हवा। वैद्य लोग उन रोगों को, जिनको पाश्चात्य चिकित्सक नाड़ि-संस्थान का विकार समझते हैं—और उनकी समझ की पुष्टि प्रत्यक्ष प्रयोगों से होती है—वायु के प्रकोप से

उत्पन्न मानते हैं। डकार आना भी वायु का विकार है और उन्माद भी वायु का ही दोष है। जब कोई ज्वर में बकने लगता है तो कहा जाता है कि वायु मस्तिष्क में चढ़ गया। मरनेवाले का प्राण निकलना और साँस छूटना एक ही बात हो गई है। बहुत दिनों से शरीर को चीरने-फाड़ने की पद्धति तो उठ ही गई है, अतः जिन तंतुओं के सहारे यह वायु (अर्थात् हवा) चढ़ा-उतरा करता है वे रक्तवाहक शिराओं के समान खोखली नलियाँ समझे जाने लगे हैं।

वैद्य की बात जाने दीजिए, योगियों को तो ये बातें स्पष्ट ज्ञात होनी ही चाहिएँ। कहा यह जाता है कि बिना शरीर की चीर-फाड़ किए और पुस्तकों में अध्ययन किए योगी को शरीर के भीतर की बातें ज्ञात हो जाती हैं। पतंजलि कहते हैं कि नाभिस्थान में संयम करने से कायव्यूह का ज्ञान हो जाता है। योग की पोथियों में नाड़िजाल का बड़ा ही विशद वर्णन मिलता है। तब योगियों का तो यह अपना विषय है। पर हम देखते हैं कि बहुत से साधकों के ही नहीं, वरन् ऐसे लोगों के जो दूसरों को इस मार्ग की शिक्षा देते हैं, मुँह से ऐसी ही बात निकलती है कि प्राण, वायु और साँस समानार्थक शब्द हैं। 'अमुक महात्मा ने अपनी साँस ब्रह्मांड में चढ़ा ली'—ऐसे वाक्य बहुत सुनने में आते हैं।

मैं यह कह देना चाहता हूँ कि न तो मैं सब वैद्यों पर आक्षेप कर रहा हूँ, न सभी योग में अभिरुचि लेनेवालों पर। पर इन दोनों वर्गों की बहुत बड़ी संख्या पर मेरी शिकायत लागू होती है।

पर शास्त्र और व्यवहार दोनों ही ओर से इस विश्वास पर प्रहार होना चाहिए था। दूसरे ग्रंथों को जाने दीजिए, स्वयं वेद वायु और प्राण में भेद करता है। पुरुषसूक्त में श्रुति कहती है 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च'—विराट् पुरुष के श्रोत्र से वायु और प्राण उत्पन्न हुए। श्रुति द्विरुक्ति क्यों करती? इससे यह शंका होती है कि वायु और प्राण भिन्न पदार्थ हैं। योगी अपने प्राण को सुषुम्ना नड़ी में चढ़ाता है। पीठ की हड्डी को मेरुदंड कहते हैं। उसमें जो नली है उसके बीच में गुदास्थान से लेकर मस्तिष्क तक जानेवाली नाड़ी को सुषुम्ना कहते हैं। यह तंतुरूपा—डोरी के समान है। इस पर

स्थान स्थान पर नाड़ि-तंतुओं के गुच्छे हैं। ये तंतु शरीर में नीचे से ऊपर तक फैले हुए हैं और हमारे ज्ञान और क्रिया के साधन हैं। शरीर के कोने कोने से आकर तंतु सुषुम्ना में मिलते हैं। देखना, सुनना, चलना, साँस लेना, आदि सभी कामों से संबंध रखनेवाले अवयवों का मेल इनके द्वारा सुषुम्ना और मस्तिष्क से हो जाता है। अब सोचने की बात यह है कि इन पतली डोरियों के भीतर साँस कैसे घुस जायगी ? मस्तिष्क में वह किस जगह जाकर ठहरेगी ? जो लोग थोड़ा-बहुत योगाभ्यास करते हैं उनको तो अपने अनुभव की कुछ परख होनी चाहिए। क्या सचमुच उनकी साँस मेरुदंड के भीतर घुसकर सुषुम्ना में छेद करके ऊपर उठती है ? यदि वे थोड़ा सा भी विचार करेंगे तो उनको प्रतीत हो जायगा कि यह बात नहीं है। साँस से सुषुम्ना का कोई संबंध नहीं है।

बस यही सुषुम्नाचारी पदार्थ प्राण है। यह जीवन-शक्ति है। इस शक्ति के अस्तित्व में शरीर की सारी क्रियाएँ होती हैं। यदि यह किसी भाग से थोड़ा सा खिँच जाती है तो वह अंग रुग्ण हो जाता है। यदि शरीर से इसका पूरा विच्छेद हो जाता है तो मृत्यु हो जाती है।

प्राण और श्वासा को लेकर जो शब्द-व्यभिचार होता है उसके तीन कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि कभी प्राण और वायु शब्द साधारण बोलचाल में समानार्थ-बोधक रहे होंगे। पीछे प्राण एक विशेष पारिभाषिक शब्द हो गया पर उसका वायुवाले अर्थ से पीछा न छूट सका। इसलिये विद्वन्मंडली में भी कुछ अवसरों पर वह श्वास वायु के अर्थ में और वायु शब्द कहीं कहीं प्राण के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा। जैसे, योगदर्शन के 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम् वा प्राणस्य' (या प्राण के निकालने और धारण करने से) सूत्र में स्पष्ट ही श्वास-प्रश्वास वायु की ओर संकेत है। दूसरे, इस शरीर में प्राणशक्ति की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति श्वास-क्रिया से होती है। मूर्च्छा और सुषुप्ति की दशा में भी साँस बंद नहीं होती और मरनेवाले की सब चेष्टाओं के बंद हो जाने के बहुत पीछे तक धीमी साँस चलती रहती है। एक तीसरा कारण और भी है और योग-चर्चा में भूल का मुख्य कुश्रेय उसे ही है। प्राण और वायु दोनों का

ही उपयोग योग में होता है। योगी का उद्देश्य मोक्ष है। जब तक चित्त चंचल रहता है, जब तक चित्त में कोई भी वृत्ति उठती रहती है, तब तक पुरुष चित्त के साथ तादात्म्य कल्पित करके कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अनुभव करता रहता है। अतः मोक्ष के लिये चित्त का पूर्णतया उपशम अनिवार्यतया आवश्यक है। पतंजलि कहते हैं कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। परंतु साधारण अवस्था में चित्त और नाड़ि संस्थान का चोली-दामन का साथ है। एक दूसरे को सतत प्रभावित करता रहता है। नाड़ि-संस्थान में उद्वेग होने से चित्त में ज्ञान, भ्रांति, सुख, दुःख, भय आदि का उदय होता है और चित्त की अवस्थाओं के अनुसार नाड़ि-जाल का संचालन होता है। रक्तप्रवाह, हृदयस्पंद जैसी क्रियाएँ साधारणतः स्वच्छंद रूप से होती रहती हैं परंतु बहुत तीव्र हर्षशोकादि से इनमें भी व्यतिक्रम पड़ जाता है। अतः चित्त को वश मे करने के लिये नाड़िसंस्थान को वश में करना आवश्यक होता है। योगी क्या खाय, कैसे और कब नहाय, कैसा और कितना श्रम करे, इन सब बातों के लिये नियम बने हैं। कुछ दूसरी शारीरिक क्रियाओं का भी विधान है। इन सबका परिणाम यह होता है कि नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। साधारण मनुष्य की नाड़ियाँ प्राणशक्ति का समुचित वहन नहीं कर सकतीं। बाधा पड़ती रहती है, इससे रोग और क्षोभ होता है। एक भाग की चेष्टा का दूसरे भाग की चेष्टा से संघर्ष सा होता है। नाड़ियों के शुद्ध होने पर ये बातें दूर हो जाती हैं। सारी क्रियाएँ उसी प्रकार मिलकर होती हैं जिस प्रकार एक अच्छे बजानेवाले की अँगुलियों के चलने से सितार मे से स्वर निकलते हैं। आपस के टकराने में और रोगादि से लड़ने में जो शक्ति नष्ट होती है वह भी संचित हो जाती है। ज्यों ज्यों योगी धीरे धीरे प्राण को शरीर के बाहरी भागों से खींचकर नाड़िमाला पर ले आता है और नाड़िकंदों अर्थात् चक्रों पर केंद्रीभूत करता है त्यों त्यों उसके ज्ञान और बल में अद्भुत वृद्धि होती है और स्वरूप का अनुभव उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जिन क्रियाओं से इस काम में बड़ी सहायता मिलती है उनमे मुख्य स्थान आसन और श्वास-नियंत्रण का है। एक आसन से स्थिर होकर बैठने तथा साँस की गति का नियंत्रण करने से शरीर निःक्षोभ

हो जाता है और नाड़ियों में निश्चलता आती है। अतः श्वासा का नियंत्रण प्राण के नियंत्रण का एक बड़ा साधन है। साधन और साध्य में अभेद करके व्यवहार में श्वास और प्राण का एक अर्थ हो गया।

जीवधारियों में प्राण श्वास को प्रेरित करता है और अपने काम में व्यस्त रखता है। यदि प्राण अपने संबंध का विच्छेद कर ले तो सभी चेतस और दैहिक चेष्टाएँ बिखर जायँ, मृत्यु हो जाय। यह प्राण जीवन-शक्ति है परंतु शक्ति होने से प्रधानसंभव नहीं है, रजोगुण से नहीं निकला है। यह पुरुष की सत्ता की प्रतिच्छाया है, उसके अस्तित्व का प्रभाव या प्रमाण है। पुरुष की अपनी आत्मिक शक्ति है जो अंतःकरण में बुद्धि को परचालित करती है; देह में भौतिक शक्तियों का नियमन करती है। परंतु पुरुष अखिल विश्वव्यापी विराट् पुरुष का अंश मात्र है, अतः उसका प्राण उस परम पुरुष के प्राण का अंश, उस प्राण-समुद्र की एक लहरी है। इस समय कृत्रिम पार्थक्य का पर्दा पड़ा हुआ है, परंतु ज्यों ज्यों योगी अपने प्राण को बाहर से खींचकर सुषुम्ना में चढ़ाता है त्यों त्यों वह विक्षेपहीन होता जाता है और अपने मूल के निकट आता जाता है। इसी से योगी के ज्ञान और बल में वृद्धि होती जाती है। जब वह अपने प्राण को क़ैद करनेवाली दीवारों को तोड़कर उसे उसके उद्गम पर पहुँचा देता है उस समय, तंत्र के शब्दों में, शिव और शक्ति का मेल होता है, जीवेश्वर-भेद मिट जाता है, पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अस्तु, यह खूब समझ लेना चाहिए कि वायु प्राण नहीं है।

(ग) पंच महाभूत

हमारे दर्शनशास्त्र के सिद्धांत का विज्ञान के साथ कहाँ तक सामंजस्य है यह देखने के पहिले यह उचित है कि हम विज्ञान का खींचा हुआ जगत् का चित्र अपनी आँखों के सामने रख लें। रसायन-शास्त्र के अनुसार इस विशाल विश्व के बिस्तृत प्रपंच की तह में नब्बे से कुछ ऊपर मूल पदार्थ हैं, जिनमें से प्रत्येक तत्त्व कहलाता है। लोहा, पारा, सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा तत्त्व हैं। इनकी मूलता इस बात में है कि दूसरे पदार्थ इनके मिश्रण से बने हैं पर ये किसी के मिश्रण से नहीं बने हैं। पीतल तत्त्व नहीं है

क्योंकि वह ताँबा और जस्ता को साथ गलाने से बनता है। तूतिया और जल मूल पदार्थ नहीं हैं। जल में से हाइड्रोजन और आक्सिजन नाम के दो पदार्थ पृथक् किए जा सकते हैं; तूतिया ताँबा, गंधक और आक्सिजन के मेल से बनता है। ये तत्त्व ठोस भी रहते हैं, गर्मी देने से पिघलकर द्रव हो जाते हैं और बहुत गर्म होने पर भाप की भाँति उड़ जाते हैं। प्रत्येक तत्त्व के सबसे छोटे टुकड़े को परमाणु कहते हैं। परंतु विज्ञान यहीं नहीं रुकता। उसने और गहिरा अन्वेषण करके यह देखा है कि प्रत्येक तत्त्व का प्रत्येक परमाणु एक प्रकार का सौर जगत् है। उसमें कुछ बहुत छोटे कण बीच में होते हैं, कुछ उनके चारों ओर घूमते रहते हैं। इन कणों में से कोई धन विद्युत्, कोई ऋण विद्युत् युक्त होता है। विद्युत् शक्ति का एक रूप है। शक्ति अनेक रूपों में जगत् को परिचालित कर रही है। वह कहीं उष्णता, कहीं प्रकाश, कहीं गुरुत्वाकर्षण और कहीं रासायनिक आकर्षण का रूप धारण करती है। वही पनचक्की चलाती है, रेल के एंजिन और कारखाने की मशीनों को परिचालित करती है तथा हमारी मांस पेशियों में बल के रूप में प्रकट होती है। ये सभी एक दूसरे के रूपांतर हैं। विद्युत् स्यात् इनमें सबसे सूक्ष्म है। कम से कम अभी तक उससे सूक्ष्म किसी रूप का हमें पता नहीं है। अस्तु। तत्त्वों में इसी बात का अंतर है कि किसके परमाणु में किस प्रकार के कितने कण हैं। जगत् की ईंटें दो ही प्रकार की हैं; धनविद्युन्मय कण और ऋणविद्युन्मय कण। पर अभी और आगे चलना है। इन कणों में और विद्युत् में एक विचित्र संबंध है। इनको भौतिक इसलिये कहा जाता है कि इनमें द्रव्यमान है, इनको तौला जा सकता है। पर यह द्रव्यमान गतिसापेक्ष है और गति निर्भर है शक्ति पर। गति बढ़ने पर द्रव्यमान भी बढ़ता है। थोड़े में, अवस्था-विशेष में शक्ति ही उस गुण को प्रदर्शित करती है, जिसे द्रव्यमान कहते हैं। अतः दो प्रकार की विद्युतों से युक्त कणों की सत्ता में गौरव प्रतीत होता है। इतना ही मानना अलम् है कि दो प्रकार की विद्युत् हैं, धन और ऋण। पर ऐसा भी मानने का कारण है कि एक ही प्रकार की अर्थात् ऋण विद्युत् है—उसमें जो बीच बीच में अवकाश, रिक्त स्थान हैं, वही धन विद्युत् से प्रतीत

होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जगत् के मूल में एक पदार्थ, शक्ति का कोई भेद, है। वह दिक् में स्थित है, अवकाश, स्थान, घेरता है। गति ही उसका धर्म है। विशेष अवस्थाओं में वह द्रव्यमान धर्म प्रदर्शित करता है। तब उससे परमाणुओं की सृष्टि होती है और परमाणुओं से जगत् का सारा प्रपंच तैयार होता है। पुंजीभूत शक्ति से परमाणु का प्रादुर्भाव और विगलित परमाणु से पुनः शक्ति का निःस्रवण यह जगत् का अंतस्तल है। कुछ ऐसी भी कल्पना की जाती थी कि आकाश नाम का एक परम सूक्ष्म पदार्थ है जिसमें विद्युत् की तरंगें उठती रहती हैं; क्योंकि तरंगों के लिये, विद्युत् की गति के लिये, किसी माध्यम का होना आवश्यक प्रतीत होता था। बिना पानी के लहर की कल्पना कठिन होती है। पर आज पृथक् आकाश पदार्थ की सत्ता प्रायः नहीं मानी जाती। जिस अवकाश, शून्य, दिक् में जगत् है, उसके अपने धर्म ऐसे हैं कि उनके ही कारण वह दृग्विषय फलीभूत हो सकते हैं जिनको समझने के लिये आकाश की कल्पना की जाती थी। इन धर्मों का अन्वेषण गणित का क्षेत्र है और उसको इस काम में विस्मयकारक सफलता प्राप्त हुई है।* इसी चित्र को सामने रखकर हमको अपने दर्शनों की देन पर विचार करना है।

---

* मैंने यह प्रयत्न किया है कि वैज्ञानिक खोज के अब तक के परिणामों का ऐसा वर्णन दूँ जो उन पाठकों के लिये भी सुबोध हो, जो विज्ञान से अनभिज्ञ हैं। वस्तुतः विज्ञान का यह सिद्धांत अंश बहुत ही दुरूह है। अपनी पुस्तक 'जीवन और दर्शन' में मैंने इन वैज्ञानिक बातों का अधिक विस्तृत वर्णन किया है। रसायन और शक्ति के रूपों के विषय में जो ऊपर कहा गया है वह तो उन प्रारंभिक पुस्तकों में भी मिल जायगा जिनको कालिजों की निम्न कक्षाओं के विद्यार्थी पढ़ते हैं पर सृष्टि-संबंधी गणित और विज्ञान के ऊँचे विचारों के लिये विशेषज्ञों की लिखी पुस्तकें देखनी होंगी। एडिंग्टन की 'दि नेचर आव दि फिजिकल वर्ल्ड', लिओपोल्ड इंफेल्ड की 'दि वर्ल्ड इन माडर्न सायंस', ह्वाइटहेड की 'सायंस एंड दि माडर्न वर्ल्ड', मिलिकन की 'एलेक्ट्रन्स' तथा सर जेम्स जीन्स की पुस्तकों में इस विषय का अच्छा निदर्शन है।

इस वर्णन में दी गई अधिकतर बातें प्रयोग-सिद्ध हैं परंतु कुछ सिद्धांतरूप हैं। सिद्धांत का काम यह है कि प्रयोग द्वारा प्राप्त अनुभव को समझने में सहायता दे।

यह भी ध्यान में रखना होगा कि जगत् का यह पूरा चित्र नहीं है। जीवित प्राणियों में जो जीवन-शक्ति होती है, बुद्धि और मन में जो शक्ति होती है, उन शक्तियों से इस भौतिक परा शक्ति का क्या संबंध है? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न रह जाता है। अपनी खोज के द्वारा भौतिक विज्ञान ऐसी जगह पहुँच गया है जहाँ से बहुत आगे वह अकेले नहीं जा सकता क्योंकि यहाँ पर उसकी सीमा के साथ जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान, धर्म-शास्त्र और योगविद्या की सीमाएँ मिलती हैं। इन सबका समन्वय कराना दर्शन का काम है। सच्चा दार्शनिक सिद्धांत वही होगा जो किसी भी शास्त्र के प्रामाणिक तथ्यों का विरोध न करते हुए सब तथ्यों का पारस्परिक संबंध और सामंजस्य दिखला सकेगा।

एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। पाश्चात्य विद्वान् अब तक ऐसा मानते रहे हैं कि हमारा अंतःकरण एक प्रकार का तख्ता है जिस पर बाहरी विषय इंद्रियों के द्वारा अपना अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं। इंद्रियाँ खुली हैं, उनको विषयों से विताड़ित होना ही होगा और फिर चित्त पर संस्कार पड़े बिना रह नहीं सकता। दूसरी बात वे यह मानते रहे हैं कि चित्त और शरीर का ऐसा साथ है कि शरीर के बिना अर्थात् सुषुम्ना से लेकर मस्तिष्क तक के नाड़िजाल के अणुओं के प्रकम्पन के बिना, चेतस क्रिया नहीं हो सकती। भारतीय दर्शन इन दोनों मतों को अस्वीकार करता है। चित्त और इंद्रिय निष्क्रिय नहीं, सक्रिय हैं। वे विषयों के हाथों बेबस नहीं रौंदी जातीं, स्वयं विषयों को ग्रहण करने के लिये अग्रसर होती हैं। इसी लिये इंद्रियों को ऐसे घोड़ों से उपमा दी जाती है जिनको सँभालना कठिन होता है। कठोपनिषत् कहती है—

"पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूः—स्वयंभू ईश्वर ने भीतर से बाहर की ओर खोदा। व्यक्ति और जाति में चित्त और इंद्रिय-शक्ति का विकास इसलिये नहीं होता कि उन पर बराबर विषयों का प्रहार होता रहता है वरन्

इसलिये कि विषयों से संपर्क में आने की, उनको सर्वतोमुख पकड़ने की, प्रवृत्ति चित्त और इंद्रियों का सहज धर्म है।

दूसरी बात यह है कि चित्त और इंद्रिय शरीर के साथ स्वभावतः बँधे नहीं हैं। साधारणतः हम इनकी क्रियाओं को नाड़िजाल पर निर्भर पाते हैं, पर यह तो इनकी निकृष्ट दशा है। ज्यों ज्यों मनुष्य अंतर्मुख होता है त्यों त्यों वह इनको स्वतंत्र और शक्तिमान् बनाता है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब दृश्य और द्रष्टा का साक्षात्कार होता है तब दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और दोनों में ही परिवर्तन होता है। जीवात्मा अर्थात् अंतःकरणविशिष्ट पुरुष द्रष्टा है। प्रत्येक अनुभव उसके अंतःकरण पर अपनी छाप छोड़ता है और प्रत्येक अनुभव के साथ अनुभव करनेवाला बदलता है। उस अनुभव के पहिले और उसके बादवाले चित्त में, अथच चित्तवाले में अंतर है। इसी प्रकार दृश्य का स्वरूप द्रष्टा के अधीन है। वही दृश्य सुखी, दुःखी, निर्धन, दरिद्र, स्वस्थ, रोगी, संसारी, विरक्त को भिन्न भिन्न रंगों से रँगा प्रतीत होता है। इसी इतनी बात को लीजिए। अंधे मनुष्य के लिये, जिसकी चक्षुरिंद्रिय काम नहीं कर सकती, जगत् का क्या रूप है और यदि उसकी यह इंद्रिय यकायक काम करने लग जाय तो इसका क्या रूप हो जायगा। न जाने कितने गुण जिनका इस समय उसके लिये कोई पता नहीं है, अकस्मात् उत्पन्न हो जायँगे।

इन बातों को ध्यान में रखकर हमको महाभूतों के विषय में विचार करना है।

हम पहिले कह चुके हैं कि पुरुष और प्रधान के योग से पहिले बुद्धि उत्पन्न हुई, फिर उससे अहंकार निकला। अहंकार ने पुरुष के व्यक्तित्व को और खिला दिया। उसमें अहंभाव—मैंपन—पूर्ण रूपेण व्याकृत हो उठा। परंतु मैं के लिये न-मैं—अहं के लिये अनहम्—उतना ही आवश्यक है जितना रात के लिये दिन। यदि उपयुक्त साधन हों तो अहं और अनहम् एक दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं। मन और दसों इंद्रियों की उत्पत्ति से

साधन की पूर्ति भी हो गई। अब इस जीवात्मा-रूपी ज्ञाता का ज्ञेय, उसका न-मैं, क्या था?

पुरुष से विरुद्धधर्म्मा प्रधान उसका मुख्य ज्ञेय था। इसको श्रोत्रें-द्रिय ने अपना विषय बनाया। फलतः उसमें श्रोतव्यता धर्म्म, अर्थात् शब्द, उदय हुआ और शब्द से विशिष्ट होकर न मैं का आकाश रूप हुआ। यदि प्रधान न भी होता तो भी मैं की भावना न-मै की भावना उत्पन्न करती ही। यह भावना आकाश की भावना में मिल गई। आकाश शब्द से सर्वतः व्याप्त था, इसी लिये शब्द और आकाश में संबंध बतलाया जाता है। एक और बात है। जीवात्मा को अस्पष्टतया सही या कुछ न कुछ अनुभूति तो उस 'कुल' की होती ही रही होगी, जिसका वह अंश था। प्राण किसी इंद्रिय का विषय नहीं बनाया जा सकता था पर जीव को अपने में ओतप्रोत, अपने भीतर और बाहर व्याप्त, किसी शक्ति की झीनी संवित् तो रही होगी। यही प्राण उस शब्द को एक अद्भुत शक्ति दे रहा था, जो किसी अन्य शब्द में नहीं है। वह शब्द ओज से परिपूर्ण है। उसमें से अनंत ज्ञान, माधुर्य्य और शांति की किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं।

यही अनुभूति योगी को उस अवस्था में होती है जब वह अभ्यास के पुष्ट होने पर चित्त को एकाग्र करके श्रोत्रेंद्रिय को बाहर के शब्दादि तथा मस्तिष्क के बंधनों से मुक्त कर लेता है। यह प्रणव ईश्वर का प्रतीक है। योगदर्शन में इसे ईश्वर का वाचक कहा गया है। ॐ इसकी एक झीनी और अस्फुट प्रतिध्वनि सी है, यों वस्तुतः यह अनुच्चार्य्य है। साधारण अवस्था में हमारी श्रोत्रेंद्रिय की शक्ति कई छोटे प्राणियों की अपेक्षा भी क्षीण रहती है और चारों ओर कोट्यनुकोटि प्रकार की ध्वनियों से दिङ्मंडल परिपूर्ण रहता है अतः हमारे लिये प्रणव को पकड़ना असंभव है।

जब योगी अभ्यास-पथ पर आरूढ़ होता है तो उसकी इंद्रिय-शक्ति बढ़ती है और वह क्षितिसंभूत ऐसी आवाजों को सुनने लगता है जिनका आज उसके लिये कहीं अस्तित्व नहीं है। धीरे धीरे दिग्व्यापी अटूट शब्द-राशि के भीतर उसको प्रणव की प्रतिच्छाया मिलने लगती है। यह दिव्य नाद भौतिक नहीं है, इसी लिये इसे अनाहत—दो पदार्थों के

आघात के बिना उत्पन्न—कहते हैं। इसके भी परे शुद्ध प्रणव पद है। आकाश के उदय होने से सभी जीव जो एक दूसरे के लिये न मैं, अपने अहम् से व्यतिरिक्त, हैं परस्पर प्रभावित कर सकते हैं। उसके धर्मों का अध्ययन गणित और न्याय जैसे शास्त्र करते हैं। इन धर्मों के ही कारण निमित्त संबंध—कारण से कार्य के उद्गम—में हमारा विश्वास दृढ़ होता है। गणित के द्वारा हमको दिक् और काल की अविच्छिन्न परंपरा—अनंत से अनंत तक के विस्तार—का ज्ञान होता है। गणित ही हमको बतलाता है कि, क्योंकि और इसलिये, कारण और कार्य, का अटूट संबंध है।

आकाश पहिला महाभूत है। यह एक विचारणीय बात है कि न्याय वैशेषिक को छोड़कर शेष दर्शनों ने दिक् और काल की पृथक् उत्पत्ति नहीं बतलाई, यद्यपि उसका उल्लेख बराबर करते हैं। प्रत्येक बाहरी घटना किसी जगह और किसी समय होती है। अंतःकरण में जगह तो नहीं होती पर विचारों की धारा भी काल की परिधि के भीतर ही प्रतीत होती है। पर न तो वेदांत बताता है कि आकाश और काल शुद्ध ब्रह्म से कैसे प्रादुर्भूत हुए, न सांख्य यह बताता है कि प्रधान से दिक् और काल कैसे निकले। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि इन शास्त्रों के परम आचार्य इन शब्दों को उन्हीं पदार्थों में से किन्हीं का नामांतर मानते होंगे जिनका विकास वे बतला चुके हैं।

बात है भी ऐसी ही। काल पर विचार करना यहाँ अप्रासंगिक है, परंतु आकाश को दिक् से भिन्न मानना अनावश्यक है। आकाश ही वह अवकाश देता है जिसमें सब वस्तुएँ रहती हैं और घटनाएँ घटती हैं। हम चित्त से सभी वस्तुओं और घटनाओं को यत्न करके निकाल सकते हैं, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कुछ रह जाता है। इस अवशेष की कोई रूपरेखा हमारे ध्यान में नहीं होती, कोई गुण पकड़ में नहीं आता, जिसके सहारे उसका निर्देश कर सकें। फिर भी जैसे कुछ शून्य सा रहता है, ऐसी प्रतीति मिटती नहीं। यह बचा हुआ पदार्थ आकाश है। स्वयं दृग्विषय नहीं है, घटना नहीं है पर दृग्विषयों और घटनाओं की सत्ता इस पर निर्भर है। घटनाओं की गति की संभावना ही इसका स्वरूप

है। आकाश अखंड और निःसीम है, इसी लिये व्यापकता की दृष्टि से ईश्वर की उससे उपमा दी जाती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह बात भी समझ में आ जाती है कि आकाश और शब्द में प्राचीन आचार्यों ने क्यों संबंध बतलाया है। वह शब्द जो आकाश में व्याप्त है अलौकिक है। यदि शब्द का अर्थ पशु पक्षी मनुष्यादि की बोली या दो वस्तुओं के टकराने से उत्पन्न ध्वनि लिया जाय तब तो भौतिक विज्ञान का प्रारंभिक विद्यार्थी भी यह आक्षेप कर सकता है कि ऐसे संबंध की बात कहना अवैज्ञानिक है। इस प्रकार की आवाजें तो साधारण ठोस, तरल या वाष्परूपी वस्तुओं को ही अपना माध्यम बना सकती हैं।

आकाश के बाद विकास की प्रगति और तीव्र हो चली। जो न-मैं इस समय आकाश की अवस्था में था उसको त्वगिंद्रिय ने अपना विषय बनाया अर्थात् त्वगिंद्रिय ने उससे संपर्क स्थापित किया। इससे उसने एक नया गुण प्रदर्शित किया। इस गुण को स्पर्श कहते हैं। यह दूसरी तन्मात्रा हुई। जो न-मैं अब तक एक इंद्रिय का विषय था, जो एक इंद्रिय के द्वारा द्रष्टा के चित्त पर संस्कार उत्पन्न करता था, वह अब दो इंद्रियों का विषय हुआ।

स्पर्श का अर्थ छूना है। आजकल कुछ लोग इसका अर्थ तापमान भी करते हैं; क्योंकि बहुत सी पुस्तकों में स्पर्श के शीत और उष्ण दो भेद कहे गए हैं। त्वगिंद्रिय का विषय होना ही स्पर्श का स्वरूप है। साधारणतः विद्युत् या ऐसी ही अन्य सूक्ष्म शक्तियों को शरीर में विषयीकृत करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। आकाश में अनंत प्रकंपन हो रहा है, सैकड़ों प्रकार से शक्ति तरंगित हो रही है पर हमारा अनुभूति-क्षेत्र बड़ा संकुचित है। कुछ गर्मी, कुछ प्रकाश और बस। पर ऐसा कहा जाता है कि किसी किसी रोगी की त्वगिंद्रिय इतनी तीव्र हो गई है कि शरीर से लगा देने से वह कागज पर का लिखा देख सका है। यह तीव्रता तो आकस्मिक है। परंतु अभ्यास के द्वारा त्वगिंद्रिय अपनी नैसर्गिक तीक्ष्णता पर लाई जा सकती है और शक्तिसागर के अविश्रांत नर्तन की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। यही अनुभूति स्पर्श है। नीचे के स्तरों

में यही स्पर्श सर्दी, गर्मी, कठोरता, नरमी, गुदगुदी, दबाव आदि के रूप में अनुभूत होता है।

स्पर्शयुक्त होकर आकाश का रूप भी बदला। इस नए रूप में उसे वायु कहते हैं। वायु गतिशील है। मेरा विश्वास है कि वायु शब्द से प्राचीन आचार्यों का तात्पर्य्य भौतिक शक्ति के सूक्ष्मतम रूप से था, चाहे वह विद्युत् हो या विद्युत् से भी सूक्ष्म कुछ और जिसका अभी विज्ञान को पता नहीं है। शक्ति का धर्म्म है प्रकंपन, गतिमत्ता। स्यात् इसी साधर्म्य से शक्ति के इस मूल रूप का नाम वायु रखा गया। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि यद्यपि उन लोगों ने चलना, हिलना, यंत्र-चालन, रासायनिक क्रिया, मांस-पेशियों का तनना, उष्णता आदि को देखा ही होगा फिर भी इन सब की तह में काम करनेवाली शक्ति को न तो कोई नाम दिया और न सृष्टिक्रम में उसको कोई स्थान दिया। वैशेषिक-न्याय की भाषा में जो कर्म और गमन शब्द आए हैं वे शक्ति के पर्य्यायवाची नहीं हैं। शक्ति इनका कारण होती है और इनकी मात्रा के अनुसार उसकी मात्रा का मान किया जा सकता है, पर दोनों बातें एक नहीं हैं। वायु प्रधान के अवयवभूत रजोगुण का विकार है। वह चराचर में, जड़-चेतन में, अनेक रूपों से व्याप्त है। वह विश्व का भौतिक शक्ति-पारावार है।

जिस प्रकार आत्मा या परमात्मा की व्यापकता की तुलना आकाश से की जाती है, उसी प्रकार यह दूसरा महाभूत प्राण-शक्ति के लिये उपमान हो सकता है। ऋग्वेद के दशम मंडल के १२५वें सूक्त (प्रसिद्ध देवीसूक्त) में ईश्वर की परा शक्ति कहती है—

अहमेव वात इव प्रवामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा।

मैं ही सब भुवनों को आरंभ करती हुई वायु की भाँति गतिमती होती हूँ।

यह पदार्थ भी अपरिवर्तित नहीं रह सकता था। चक्षुरिंद्रिय ने इसके रहस्य को जानने का प्रयत्न किया। उसके आक्रमण से इसमें एक नए गुण का विकास हुआ। इस नए गुण का नाम रूप है। यह तीसरी तन्मात्रा हुई। इसके आविर्भूत होने से जीव का अनहम् अब तीन इंद्रियों का विषय हो गया। उससे विशिष्ट होकर इस अनहम् का रूप भी बदला।

उसकी इस नई मूर्ति का नाम तेज है। रूप से तेज नामक तीसरा महाभूत प्रकट हुआ।

तेज आग नहीं है, न नैयायिकों के कथन के अनुसार सोना उसका घनीभूत रूप है। मेरी समझ में विद्युद्युक्त कणों की अवस्था को तैजस कहा है। ये निरंतर प्रकंपन की दशा में रहते हैं। कण कहीं टूट-कर शक्त्यात्मक हो जाते हैं; शक्ति कहीं मूर्त होकर और द्रव्यमान गुण को धारण करके विद्युत्कण बनती है। कणों की गति-विधि का मानस चित्र बनाना प्रायः असंभव है। उसको शब्दों में भी व्यक्त करना कठिन है। उसके संबंध में विज्ञान को अनिश्चितता, संभावना, संभवप्रायता जैसे गोल और अस्पष्टार्थ-बोधक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। हाँ, गणित के सूत्रों द्वारा कुछ निदर्शन हो सकता है। तेज की समष्टि को विराट् पुरुष का प्रतीक मानकर ईश्वर को ज्योतिःस्वरूप कहा जाता है।

रूप का तेज से संबंध स्पष्ट है। रूप का अर्थ हुआ प्रकाश या रंग। यह उपयुक्त है। हमको तैजस द्रव्यों का ज्ञान उनसे प्राप्त प्रकाश-रश्मियों के ही द्वारा होता है। उनमें जहाँ किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ कि आनेवाले प्रकाश में परिवर्तन हो जाता है। स्थान बदलना, कंपन, गति में वृद्धि ह्रास, द्रव्यमान का घटना-बढ़ना, इन सब बातों का चिह्न वैज्ञानिक के यंत्र पर प्रकाश-रश्मियाँ जोड़ जाती हैं। शक्ति से कण का प्रादुर्भाव और कण का शक्ति में विलीन होना भी प्रकाश के ही द्वारा अपना परिचय देता है। इसलिये जिन लोगों ने रूप को तेज का गुण बतलाया, उनका ऐसा कहना युक्तियुक्त था।

अब रसनेंद्रिय ने अनुसंधान आरंभ किया। फलतः विस्तृत तेजोराशि में एक नए लक्षण की अभिव्यक्ति हुई। इस नए लक्षण को रस कहते हैं। यह चौथी तन्मात्रा हुई।

रस से विशिष्ट होकर तेज भी बदला। नए रूप में उसे अप् कहते हैं, जो चार इंद्रियों का विषय है। अप् चौथा महाभूत हुआ।

रस का अर्थ साधारणतः स्वाद माना जाता है। छः स्वाद, मधुर, लवण, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय, माने जाते हैं। पर यह सूची व्यापक

नहीं है। सुरासार या कॉस्टिक सोडा को लीजिए। इनका जिह्वा से स्पर्श होने से एक प्रकार की जलन की अनुभूति होती है पर यह जलन मिर्च की जलन से भिन्न है। यह नहीं कह सकते कि वह स्वाद नहीं है, कम से कम सुरासार का तो एक अपना स्वाद निःसंदेह है। पानी को ही लीजिए। पोथियों में तो जल का स्वाद मधुर बतलाया गया है पर यह माधुर्य खाँड के माधुर्य से नितांत भिन्न है। वस्तुतः इसके लिये दूसरा नाम होना चाहिए। वैज्ञानिक शुद्ध जल को निःस्वाद कहता है। यदि हम प्रचलित परिपाटी का परित्याग करके इसको छः स्वादों पर सीमित न मानें और उसे उस अनुभूति का नाम मान लें जो किसी भी पदार्थ और रसनेंद्रिय के संसर्ग से उत्पन्न होती है तो ऐसा माना जा सकता है कि सभी पदार्थों के परमाणुओं में किसी न किसी प्रकार का रस होगा। हम सब रसों को ग्रहण नहीं कर सकते और कुछ अनुभूतियाँ तो बड़ी ही अरुचिकर होंगी पर सूक्ष्मीकृत रसनेंद्रिय इन सबको अपना विषय बना सकेगी। हम अप् की जो व्याख्या करनेवाले हैं उसको ध्यान में रखते हुए यह बात भी स्मरणीय है कि गले हुए धातुओं को भी रस कहते हैं।

अप् का अर्थ जल नहीं हो सकता। पुराणों में ही नहीं प्रत्युत श्रुति में भी कहा है कि अप् से सृष्टि होती है और इसी में लीन होती है। अप के गर्भ से सृष्टि के निकलने का बराबर उल्लेख है। यह कैसे माना जाय कि जिन लोगों ने ऐसा लिखा है वे यह मानते थे कि किसी अवस्था में पहाड़, पत्थर, धातु भी जल में घुल जायँगे? यह भी जाने दीजिए। सूर्य चंद्र सुवर्ण नक्षत्रगण को तो उन्होंने भी तैजस माना है। कार्य कारण में लय होता है, कारण कार्य्य में नहीं। तेज अप् का कारण है, इसलिये अप् तो तेज में विलीन हो सकता है पर तेज अप् में विलीन नहीं हो सकता। फिर भी सूर्य्यादि का अप् से निकलना और फिर उसी में लीन होना बतलाया गया है। उदाहरण के लिये श्रीमद्भागवत का यह अवतरण देखिए :—

सक्ष्मांतरिक्षं सदिवं सभागणं त्रैलोक्यमासीत् सह दिग्भिराप्लुतम्। (१२-६-१५)

पृथिवी, अंतरिक्ष, सूर्य्य, नक्षत्रगण और दिशाओं के साथ सारा त्रैलोक्य आप्लुत (जलमग्न) था। [१२वाँ स्कंध, ९वाँ अध्याय, १५वाँ श्लोक]

यह कार्य्य में कारण का लय शास्त्र और अनुभव के विरुद्ध है। अतः इस प्रसंग में अप् का अर्थ जल नहीं हो सकता। यह ठीक है कि पीछे से लोगों ने नासमझी के कारण अप् को जलवाची मान लिया।

आजकल ज्योतिष ने बड़ी उन्नति की है। ज्योतिषियों ने यंत्रों द्वारा यह प्रत्यक्ष किया है कि विद्युत्कण और उनके संयोग से बने परमाणु आकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं। पर सब जगह उनका जमाव एक सा नहीं है। आकाश के कुछ भागों में करोड़ों वर्षों में उनके बड़े बड़े विस्तीर्ण पुंज एकत्र हो गए हैं। ये पुंज विस्तार में करोड़ों कोस लंबे चौड़े गहरे हैं। इनमें से एक पुंज का तो हम प्रायः नित्य दर्शन करते हैं। पृथिवी मंगल गुरु आदि के साथ हमारा सूर्य्य स्वयं इसी पुंज के एक अंश में स्थित है। इसको हम आकाश-गंगा कहते हैं। ऐसे ही कई और पुंज हैं। इनको कुछ लोग द्वीप विश्व की उपाधि देते हैं। सूर्य्यादि तारे इन्हीं में से निकले हैं और तारों से ग्रह उपग्रह बनते हैं। फिर अनुकूल परिस्थिति में किसी ग्रह पर चेतनों की सृष्टि भी हो सकती है। अतः ये विशाल कण परमाणु-पुंज—ये नीहा-रिकाएँ—ही दृश्य जगत् का चूना-गारा हैं। यह इसी सामग्री से बना है, इसी में विलीन होगा। विश्व के किसी कोने में नए नक्षत्र बन रहे हैं, करोड़ों वर्षों में स्यात् उनसे फूटकर ये निकलेंगे, अरबों वर्षों में उनमें से किसी पर पृथिवी की भाँति सभ्यता और संस्कृति का भी उदय हो सकेगा। इसके साथ ही दूसरे कोने में पुराने नक्षत्र ठंडे पड़ रहे हैं, उनके साथ यदि कोई ग्रह होंगे तो वे न जाने कब के जीव-विहीन हो चुके होंगे। किसी तीसरे कोने मे सूर्य्य टूट रहे हैं। वहाँ प्रलय हो रही है। इस सृष्टि-प्रलय-क्रम के ब्योरे के विषय में पूरा पूरा ज्ञान भले ही न हो परंतु मूल बात निर्विवाद है। अस्तु। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कणों और परमाणुओं के इस समुद्र-वत् फैलाव को तथा उनसे फेन के समान पिंडों को बनते और फिर फेन की भाँति विलीन होते देखकर ही अप् शब्द चुना गया। इस शब्द की एक विशेषता भी ध्यान में रखने योग्य है। यह संस्कृत में नित्य बहुवचनांत है। हिंदी में इसका ठीक अर्थ 'जलों' हुआ। इस शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक हो सकता है कि यह एक वस्तु नहीं प्रत्युत कई पदार्थों—

वैज्ञानिकों के मत से कई प्रकार के परमाणुओं और परमाणु-खंडों—का मिश्रण है। सूर्य्य-नक्षत्रादि पिंडों में अभी अविभक्त होने के कारण इसको कभी कभी सलिल—एकरस, समतल, दिगंतव्यापी द्रव पदार्थ—संज्ञा दी जाती है।

ज्ञान का एक साधन—घ्राणेंद्रिय—और बच रहा था। अब उसने अन्वेषण-क्षेत्र में पदार्पण किया। उसके प्रभाव से अप् में से गंध का प्रादुर्भाव हुआ। यह पाँचवीं तन्मात्रा है। इससे युक्त होने से अनहम् की क्षिति संज्ञा हुई।

गंध को क्षिति का गुण कहा है। इसको स्वीकार करने में कोई विशेष कठिनाई न होनी चाहिए। बहुत से पदार्थ, जो क्षिति के अंतर्गत हैं, हमको गंधयुक्त प्रतीत होते हैं। जहाँ हमको गंध नहीं मिलता वहाँ भी कुछ दूसरे प्राणियों की तीक्ष्ण घ्राणेंद्रिय गंध ढूँढ़ निकालती है। योगियों का कथन है कि उनको बराबर सूक्ष्म रसों और गंधों की अनुभूति होती है। इससे ऐसा माना जा सकता है कि सभी क्षैत पदार्थ गंधगुण-युक्त हैं।

क्षिति का अर्थ न तो मिट्टी है, न यह पृथिवी। यह शब्द सभी ठोस, तरल और वाष्पीय द्रव्यों के लिये आया है। सभी तत्त्व और तत्त्वों के मिश्रण से बने सभी दूसरे पदार्थ क्षिति के अंतर्गत हैं।

संक्षेप में, भूतों के संबंध में मेरा यही मत है। जहाँ तक मैं देखता हूँ यह विज्ञानसम्मत है और उन बातों पर प्रकाश डालता है जो भौतिक विज्ञान के लिये अब तक अज्ञात हैं। जीवन-शक्ति क्या है और अंतःकरण, इंद्रियगण और बाह्य जगत् में कैसा संबंध है, इन प्रश्नों को भी हल करने में इससे सहायता मिलती है। इसके साथ ही, यह कष्ट-कल्पना नहीं है, न इसको स्थिर करने में मैंने शास्त्रों के साथ कोई खींचातानी की है। मेरा यह विश्वास है कि मैं इस प्रकार वही अर्थ दिखला रहा हूँ जो प्राचीन आचार्य्यों को अभिमत थे। नवीनों के पास न योग का अनुभव था, न वैज्ञानिक अनुभव। इसी से वे लोग चूक गए।

इस व्याख्या से एक बात और निकलती है। साधारणतः हम लोग महाभूत शब्द को अँगरेजी के मैटर का पर्य्याय मानते हैं। पर जैसा अर्थ

मैंने किया है उसके अनुसार पाश्चात्य दार्शनिक और वैज्ञानिक शब्दावली के तीन शब्दों दिक्, मैटर और शक्ति के अर्थों का अवबोधन इससे होता है। अकेले मैटर का भाव बहुत कुछ क्षिति से निकलता है और तेज उसका सूक्ष्मतम रूप है। संभव है, उपनिषदों में आया हुआ 'रयि' शब्द मैटर के अर्थ में आया हो। यह बात अन्वेष्टव्य है।

साधारणतः लोगों की धारणा यह है कि पाँचों महाभूत एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र हैं और यह जगत् इन पाँचों के सम्मिश्रण का फल है। मैंने जो व्याख्या की है उसमें यह पार्थक्य स्वीकार नहीं किया गया है। विकास-वाद का कोई भी भेद, चाहे वह सांख्य के अंतर्गत हो या वेदांत के या उभय के, भूतस्वातंत्र्य को नहीं मान सकता।

(घ) काल

मैंने पूर्ववर्ती खंड में एक जगह लिखा है कि सांख्य और वेदांत के आचार्यों ने काल की उत्पत्ति कहीं नहीं बतलाई है, जिससे यह अनुमान होता है कि वे उसको पृथक् पदार्थ नहीं मानते।

काल दो प्रकार का होता है। एक तो काल वह है, जिसको हम कला, काष्ठा, मुहूर्त्त, मिनिट, दिन, वर्ष में विभक्त करते हैं और नापते हैं। नापना तभी हो सकता है जब एक वस्तु की दूसरी से तुलना की जा सके और तुलना तभी हो सकती है जब दोनों वस्तुएँ एक दूसरे के साथ साथ रखी जा सकें। यह बात दिक्, आकाश, में ही संभव है। अतः हम जिसको काल के नाम से नापते हैं वह काल नहीं दिक् में काल की प्रति-च्छाया है। वेदांत के शब्दों में वह दिक् में काल का अध्यास है।

वास्तविक काल अनुभूति का विषय है। द्रष्टा, जीवात्मा, को निरंतर नई अनुभूतियाँ होती रहती हैं। जो अनुभूति हो गई वह फिर सामने नहीं आती, उसकी तुलना किसी और अनुभूति से नहीं की जा सकती। पर कोई अनुभूति नष्ट नहीं होती। वह अपना संस्कार छोड़ जाती है जो पूर्ववर्ती संस्कारों से मिलकर एक हो जाता है। बस, जीवात्मा को अपनी इस संस्कार-माला की, यों कहिए कि अपनी, जो अनुभूति होती है वही कालानुभूति है। काल जीवात्मा का स्वरूप है।

हम अपनी एक अनुभूति की अवस्था में किसी बाह्य वस्तु को एक परिस्थिति में और एक जगह, दूसरी अनुभूति की अवस्था में उसे दूसरी परिस्थिति में और दूसरी जगह पाते हैं। अपनी अनुभूतियों का, सच्चे काल का, हमको प्रत्यक्ष ज्ञान है। हम इस काल को तो नाप तौल नहीं सकते पर इसके साथ साथ वस्तु में जो स्थान-परिवर्तन हुआ है उसे नाप सकते हैं। इस प्रकार दिक् की नाप काल की नाप बन जाती है। इसमें एक सुविधा है। कालानुभूति सब की अपनी पृथक् पृथक् है। यह आभ्यंतर है। पर जिस दिक् की अनुभूति की जाती है वह सब के बाहर है, इसलिये एक प्रकार से सबकी संपत्ति है। उसको आभ्यंतर अनुभूति की छाया के रूप में प्रयोग करने से हम अप्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे के अंतः-करणों की अनुभूति में थोड़ा सा प्रवेश करते हैं। इससे व्यवहार में सुगमता होती है।

जब योगी अंतःकरण की भूमिका तक पहुँचता है तो वह आकाश की सीमा के बाहर हो जाता है। चित्त की वृत्ति का पूर्णतया निरोध कर लेने पर, योग की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने पर, अनुभूतियों का क्रम टूट जाता है और काल का भी अतिक्रमण हो जाता है।

यह विवरण बहुत ही संक्षिप्त है। प्रसंग के अभाव से इसे अधिक विस्तार देना अनुचित होगा।

कश्मीर से प्राप्त महाभारत का एक प्राचीन बिक्री-पत्र

[अनुवादक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

संस्कृत भाषा में लिखा हुआ यह बिक्री-पत्र महाभारत की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति के एक पन्ने पर लिखा हुआ डा० सर एम० ए० स्टाइन को १८९८ में कश्मीर में मिला था। कुछ ब्राह्मणों ने महाभारत की हस्तलिखित पोथी ३५ सहस्र दीनार के मूल्य से गुरु आनंद नामक एक व्यक्ति के हाथ बेची थी। उसी का यह बिक्री-पत्र है जो ऊपर फारसी और नीचे संस्कृत भाषा में लिखा हुआ है। डा० स्टाइन ने इसके संबंध में एक अत्यंत रोचक लेख रायल एशियाटिक सोसाइटी के त्रैमासिक पत्र में सन् १९०० के अप्रैल वाले अंक में प्रकाशित किया था। वह लेख कई दृष्टियों से हिंदी पाठकों के लिये ज्ञानवर्धक है, अतएव श्री स्टाइन महोदय की विशेष आज्ञा प्राप्त कर हम उसका भावार्थ यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। डा० स्टाइन के हम इसलिये विशेष आभारी हैं कि उन्होंने अपने छपे हुए लेख की एक प्रति भी इस कार्य के लिये भेजने की कृपा की।

महाभारत की जिस हस्तलिखित पुस्तक का इस लेख में प्रासंगिक वर्णन है उसे मैंने अक्टूबर १८९८ में श्रीनगर में खरीदा था। यह शारदा लिपि में लिखी हुई है और इस समय इसमें केवल गदापर्व, सौप्तिकपर्व, स्त्रीपर्व और अश्वमेधपर्व सुरक्षित हैं। किसी समय यह संपूर्ण महाभारत का एक अंश था जो हस्तलिखित पत्राकार* दो बड़े

* पत्राकार के लिये अँगरेजी में फोलियो (Folio) शब्द है। एक ताव कागज को बीच से मोड़कर पत्राकार बना लेते हैं जिसमें चार पृष्ठ होते हैं। पुरानी जिल्दहीन लिखी और छपी संस्कृत पुस्तकें इसी रूप में मिलती हैं।

खंडों में थी जिसकी लिपि से उसका लेखन-काल १६वीं या १७वीं शताब्दी का प्रारंभ ज्ञात होता है। पोथी बहुत ही सावधानी से किसी विद्वान् पंडित के हाथ की लिखी हुई जान पड़ती है और कश्मीर में प्रचलित महा-भारत के मूल पाठ के लिये यह एक उत्तम आदर्श पुस्तक है।

इस पुस्तक का और भी एक महत्त्व है। इसके द्वारा एक प्राचीन कश्मीरी विद्वान् पंडित और लेखक के नाम की पहचान मालूम होती है। पुस्तक को देखते ही उसमें बहुत सी टिप्पणियाँ और संशोधन मुझे ऐसी लिपि में लिखे हुए मिले जो मेरी पहचान में पहले अनेक वर्षों से अच्छी तरह आ चुकी थी। शारदा लिपि में लिखी हुई कल्हण की राजतरंगिणी की एक बहुमूल्य आदर्श पुस्तक मुझे कश्मीर में मिली थी। उसके पृष्ठों में किसी विद्वान् टिप्पणीकार के द्वारा बहुत परिश्रम से अनेक टिप्पणियाँ, पाठांतर और दूसरी मूल्यवान् सामग्री का सन्निवेश किया गया था। जब से मैंने उस हस्तलिखित प्रति के आधार पर मूल राजतरंगिणी का संस्करण तैयार किया था तभी से मैं उसका नाम जानने के लिये उत्सुक था। अपने उस संस्कृत संस्करण की भूमिका * में मैं इस महानुभाव के कार्य के मूल्य और महत्त्व का संकेत कर चुका हूँ। राजतरंगिणी की वह मूलादर्श पुस्तक कश्मीरी ब्राह्मण राजानक रत्नकंठ की लिखी हुई थी और आंतरिक साक्षी के आधार पर मेरा अनुमान था कि टिप्पणीकार महोदय भी रत्न-कंठ के समकालीन ही रहे होंगे। उस समय मैंने टिप्पणीकार का सांकेतिक नाम अ २ (A २) रख लिया था। प्रस्तुत बिक्री-पत्र से उनका नाम भट्ट हरक ज्ञात होता है और उनके समय के विषय में भी मेरा अनुमान ठीक सिद्ध होता है। कश्मीर से प्राप्त अन्य संस्कृत पुस्तकों में भी मुझे अ २ के हाथ की लिखी हुई टीका-टिप्पणियाँ देखने को मिली थीं जिनसे लेखक के पांडित्य और विशुद्धता की छाप मेरे मन पर थी, परंतु कहीं से भी मुझे उनका नाम ज्ञात न हो सका था। अतएव मुझे इस बात से और भी हर्ष

* कल्हण-कृत राजतरंगिणी, स्टाइन द्वारा संपादित, एडुकेशन सोसाइटी प्रेस, बंबई, १८९२, भूमिका पृ० १०,११।

हुआ कि महाभारत की जो पुस्तक मुझे प्राप्त हुई उसमें एक विक्री-पत्र के द्वारा अ २ टिप्पणीकार की पहचान भी मिल गई। यह विक्री-पत्र उस पोथी के अंतर्गत अश्वमेध-पर्व के मुखपृष्ठ पर लिखा हुआ है। यह फारसी और संस्कृत दो भाषाओं में है। जो लेख संस्कृत भाषा में है वह अ २-संज्ञक टिप्पणीकार का लिखा हुआ है और उस पर उसका हस्ताक्षर भी है। उसका मूल पाठ शारदा लिपि से देवनागरी लिपि में इस प्रकार है—

पंक्ति १ अत्र संवत्सरे वसुशरसंख्ये आश्वयुजमासे सितेतरपक्षे तिथौ प्रतिपद्यां गुरुवासरान्वितायाम् संवत् ५८ अश्व

पं० २ वति १ गुरौ ॥ अत्र श्री प्रे दिद्दा मट्ठे निवसमानैः पंडित औतारकपुत्र पौत्रैः पण्डितलाल पण्डित श्रीकण्ठ पण्डित

पं० ३ (ग) ङ्गक पुत्र पण्डित नराभिधैः महाभारतपुस्तकद्वयं आदिपर्वमारभ्य आरण्यपर्व तावत् एकं पुस्तकं कर्ण

पं० ४ (पर्व) मारभ्य आश्रमपर्व तावत् द्वितीयं पुस्तकम् इदं महाभारताख्य इतिहासपुस्तकद्वयं मया पण्डितलाल

पं० ५ केन वा पण्डित श्रीकण्ठकेन वा पण्डित गङ्गाधरपुत्रेण पण्डित नरकेन पण्डित औत्तारकपुत्रेण दी सहस्र

पं० ६ पञ्चचत्वारिंशकमूल्येन गुरुवरानन्दपादानां विक्रीतम् अङ्के दी सहस्रं ४५०० अत्र साक्षिणः

पं० ७ (ब्रह्म) विष्णुमहेश्वराः लिखितं मया तकळे भट्ट हरकेनेतिशुभम् ॥ साक्षी पं० केशवकः

पं० ८ साक्षी पं० केशकेन

अनुवाद

वसु (८) और शर (५) संख्यक इस संवत्सर में क्वार मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि को बृहस्पतिवार के दिन अर्थात् संवत् ५८ अश्ववति १ गुरुवार। श्रीनगर-प्रवरपुर* में दिद्दा मठ के निवासी पंडित

---

* श्री प्रे श्रीनगर-प्रवरपुरे का संक्षिप्त रूप है। श्रीनगर का प्राचीन नाम प्रवरपुर या श्रीप्रवरसेनपुर था।

औतारक के पुत्र पंडितलाल और पंडित श्रीकंठ, एवं उनके पौत्र गंगक के पुत्र पंडित नर के द्वारा महाभारत की दो पुस्तकें—आदिपर्व से लेकर आरण्यपर्व तक एक पुस्तक, कर्णपर्व से लेकर आश्रमपर्व तक दूसरी पुस्तक, इस प्रकार महाभारत नामक इतिहास की दो पुस्तकें—मुख्य पंडित लालक के द्वारा तथा पंडित श्रीकंठ के द्वारा, और पंडित गंगाधर के पुत्र पंडित नरक के द्वारा, जो (क्रमशः) पंडित औतारक के पुत्र (और पौत्र) हैं, पैंतालीस सहस्र दीनार के मूल्य से पूज्य गुरुवर आनंद के हाथ बिक्री की गईं, अंके दी (नार) ४५ सहस्र। ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर इसके साक्षी हैं। तकळे भट्ट हरक नामक मैंने इसे लिखा। शुभ होय। साक्षी पं० केशवक (जिसने पत्र के अंत में अपने हस्ताक्षर इस प्रकार किए हैं)—
साक्षी पंडित केशके।

इस बिक्री-पत्र के ऊपरी भाग में यही लेख फारसी भाषा में लिखा हुआ है जिसकी घसीट लिपि में नुक्ते गायब होने के कारण अक्षरों के ठीक पढ़े जाने में कठिनाई होती है। फ़ारसी का बिक्री-पत्र संस्कृत का लगभग अनुवाद है। उसमें ये बातें विशेष हैं। उसमें तारीख सन् हिजरी १०९३ (=१६८२ ई०) है और बिक्री के दाम २२५ टंके दिए गए हैं जिनकी कीमत उस समय के कश्मीरी सिक्के के हिसाब से ४५००० दीनार होनी चाहिए। उसके हाशिए पर बिक्री करनेवाले तीनों पंडितों के और साक्षी केशव पंडित के हस्ताक्षर हैं जिसने अपने नाम के आगे सराफ लिखा है। विदित होता है कि ये लोग उस समय की राजकीय भाषा फारसी से परिचित थे और संस्कृत से नहीं। तो भी प्राचीन परंपरा के अनुसार जब कि संस्कृत राजभाषा थी संस्कृत भाग का इस बिक्री-पत्र में रहना आवश्यक समझा गया जो उस समय की साधारण प्रथा हो सकती है। फारसी में गुरु आनंद को राजानक कहा गया है जो संस्कृत राजानक का रूप है। (आज कल इसी का बिगड़ा हुआ रूप राजदान है। —अनु०)

संस्कृत के बिक्री-पत्र को देखने से ज्ञात होता है कि औतारक के पुत्र पंडित लाल और पंडित श्रीकंठ और उसका पौत्र पंडित नर दिद्दा मठ के रहनेवाले थे। दिद्दा मठ अभी तक कश्मीरी ब्राह्मणों का श्रीनगर में प्रसिद्ध

मोहल्ला है। उसका इस समय का नाम दीदमर है परंतु पंडित लोग अभी तक उसे प्राचीन नाम दिद्दा मठ से ही पुकारते हैं। उपर्युक्त तीन पंडितों ने दो पुस्तकें जिनमें संपूर्ण मूल महाभारत लिखा हुआ था* ४५००० दीनार में पूज्य गुरुवर आनंद के हाथ बेची थीं।

संस्कृत विक्री-पत्र में उसका काल कश्मीर के लौकिक या सप्तर्षि नामक संवत्सर की गणना के अनुसार [४७] ५८ वर्ष, आश्विन मास कृष्णपक्ष अष्टमी गुरुवार दिया हुआ है। गणना करने से और फारसी में दिए हुए हिजरी सन् १०९३ के साथ मिलान करने से यह दिन १० जुलाई १६८२ ई० बृहस्पतिवार सिद्ध होता है।

संस्कृत विक्री-पत्र के लेखक ने अपना नाम तकळे भट्ट हरक लिखा है। संभवतः ये इस सौदे में मध्यस्थ थे। इन भट्ट हरक के वर्तमान हस्त-लेख से ज्ञात होता है कि ये वही टिप्पणीकार हैं जिन्हें अज्ञातनामा होने के कारण मैंने अ[२] का सांकेतिक नाम दिया था। मेरा यह अनुमान कि अ[२] टिप्पणीकार (जिन्हें अब हम भट्ट हरक कह सकते हैं) राजानक रत्नकंठ के समकालीन थे, अब इस विक्री-पत्र की तिथि से ठीक प्रमाणित हो जाता है। रत्नकंठ के हाथ के लिखे हुए संस्कृत ग्रंथों में जिन्हें मैंने देखा है या मोल लिया है १६४८ ई० से लेकर १६८५ ई० तक के बीच की वर्ष-संख्याएँ पाई गई हैं। रत्नकंठ के हाथ की लिखी हुई न केवल राजतरंगिणी

---

* फारसी में आनंद की कुलाख्या (वंश-नाम) राज़ानक (= संस्कृत राजानक) दी हुई है। संभवतः ये आनंद राजानक इसी नाम के प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् थे जो सत्रहवीं शताब्दी के द्वितीय भाग में जीवित थे (श्रीयुत आफ्रेक्ट कृत संस्कृत ग्रंथों का बृहत् सूचीपत्र, द्रष्टव्य आनंद)। आनंद राजानक की बनाई नैषधचरित की टीका, जिसकी एक प्रति प्रो० बूहलर ने कश्मीर में प्राप्त की थी, १६५४ ई० में लिखी गई थी। कश्मीर के पंडितों में अभी तक यह अनुश्रुति चली आती है कि आनंद राजानक रत्नकंठ राजानक के परम मित्र थे। यह राजानक रत्नकंठ वही व्यक्ति हैं जो राजतरंगिणी की उस मूल आदर्श पुस्तक के लेखक थे जिसके आधार पर मैंने संस्कृत राजतरंगिणी का संस्करण तैयार किया था।

पुस्तक पर ही भट्ट हरक की टिप्पणियाँ और संशोधन मिले हैं, अपितु और भी बहुत से ग्रंथों पर जिन्हें रत्नकंठ ने स्वयं अपने हाथ से निजी उपयोग के लिये लिखा था*। इससे यह संभव प्रतीत होता है कि भट्ट हरक प्रसिद्ध विद्वान् और ग्रंथकार राजानक रत्नकंठ के साथी, और संभवतः शिष्य, थे।

अ१ और भट्ट हरक की पहचान में सहायक होने के अतिरिक्त कश्मीर से मिला हुआ पहला ही संस्कृत पत्र होने के कारण भी प्रस्तुत बिक्री-पत्र महत्त्वपूर्ण है। इसकी शब्दावली और इसका स्वरूप कश्मीरी ग्रंथ लोकप्रकाश में निर्दिष्ट इस प्रकार के पत्रों से बहुत कुछ मिलता है। लोक-

---

* राजानक रत्नकंठ के अपने हाथ के लिखे हुए निम्नलिखित ग्रंथों में जो इस समय मेरे पास हैं अ२ या भट्ट हरक लिखित टिप्पणी और पाठांतर पाए जाते हैं—

१—अमरकोष पर रायमुकुट की टीका (मेरे हस्तलिखित ग्रंथसंग्रह में संख्या ६)।

२—अमरविद्या (संख्या ९)

३—कातंत्र विवरण पञ्जिका (सं० ३३)।

४—काशीमाहात्म्य (सं० ३९)।

५—हरविजय महाकाव्य पर रत्नकंठ की टीका। यह रत्नकंठ के स्वहस्त-लेख की मूल प्रति है (सं० १८८)।

६—बाणकृत हर्षचरित (यह कश्मीर के मदवाह प्रांत से प्राप्त हुआ है)।

भट्ट हरक की टिप्पणी से युक्त अन्य ग्रंथों के लिये, देखिए राजतरंगिणी के अँगरेजी अनुवाद की भूमिका § ४७।

तकळे (कश्मीरी उच्चारण तकरे) भट्ट हरक के कुल की संज्ञा थी। इस प्रकार की संज्ञाओं को कश्मीरी लोग 'क्रम' कहते हैं। (तकरे को आजकल कुछ लोग तकरू लिखते हैं—अनु०।)

प्रकाश कश्मीर में प्रचलित सरकारी और व्यावहारिक पत्रों (दस्तावेजों) का निर्देशक ग्रंथ है। लोकप्रकाश के अनुसार लिखे गए इस बिक्री-पत्र के मसविदे से यह धारणा पुष्ट होती है कि १७वीं शताब्दी के लगभग अवश्य ही लोकप्रकाश में बताए हुए मसविदे या लेखपद्धतियाँ चालू थीं। अवश्य ही यह ग्रंथ प्राचीन था और इसकी कुछ सामग्री भी पूर्वक्रमागत थी, परंतु काल-परिवर्तन के अनुसार इसकी सामग्री में संशोधन होता हुआ जान पड़ता है*।

संस्कृत बिक्री-पत्र में दो भागोंवाले संपूर्ण महाभारत का मूल्य पैंतालीस हजार दीनार कहा गया है। फारसी में इस मूल्य को २२५ टंकों के रूप में व्यक्त किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि दो सौ दीनारों का उस समय लोक-प्रचलित मूल्य एक टंक था। कश्मीरी सौ दीनार को एक हथ (संस्कृत शत) कहते हैं। मुसलमानों के आने के पहले कश्मीर के हिंदू राजाओं के ताँबे के चार पैसों का मूल्य एक हथ या सौ दीनार गिना जाता था। उसके बाद यह भाव और भी गिरता गया। अकबर के समय में अब्बुल फजल ने लिखा है कि एक हथ का मूल्य एक रुपए के चालीसवें भाग के बराबर था। इस समय कश्मीर में ताँबे के एक पैसे को हथ कहते हैं। इस हिसाब से ४५,००० दीनार ४५० हथ के बराबर हुए।

---

* लोकप्रकाश के बहुत से उद्धरण, जो अत्यंत रोचक और मूल्यवान् हैं, प्रो० वेबर ने इंडिशे स्टूडिअन के बीसवें भाग में १२५ पृष्ठों में प्रकाशित किए थे (पृ० २६०–४१२)। प्रस्तुत बिक्री-पत्र में व्याकरण की कई भद्दी भूलें हैं. इनसे भी लोकप्रकाश में निर्दिष्ट लेखपद्धति के साथ इस बिक्री-पत्र का सादृश्य ज्ञात होता है। भट्ट हरक संस्कृत भाषा के बहुश्रुत और अद्भुत पंडित थे जैसा उनके लेखों से सिद्ध है। यह असंभव है कि बिक्री-पत्र में पाई जानेवाली व्याकरण की भद्दी अशुद्धियाँ (जैसे आदिपर्वमारभ्य आरण्यपर्व तावत्) वे अपने हाथ से लिखते यदि तत्कालीन ऐसे लेखों में वे चालू न होतीं। लोकप्रकाश ग्रंथ का हिंदी अनुवाद के साथ प्रकाशित होना अत्यंत आवश्यक है।—अनु०।

वैसे तो यह मूल्य अकबरकालीन चाँदी के सवा ग्यारह रुपए के बराबर होता है, पर इसको यदि दूसरे हिसाब से समझा जाय तो यह मूल्य कुछ कम नहीं जँचता। अब्बुल-फज्ल के अनुसार कश्मीरी तोल एक खरवार (=१७७ पौंड=लगभग २ मन ५ सेर) चावल का मूल्य १३०० दीनार था। इस हिसाब से ४५००० दीनार ३५ खरवार या ८८ मन चावल खरीदने के लिये उपयुक्त थे। औत्तारक पंडित के परिवार को महाभारत की पुस्तक बेचने से जो मुनाफा हुआ उसका अनुमान इस गणना से अधिक अच्छी तरह लग सकता है।

'सौदा' की हिंदी कविता

[लेखक—श्री शालिग्राम श्रीवास्तव]

मिर्जा मुहम्मद रफी का उपनाम 'सौदा' था। सन् १७१० ई० में इनका जन्म और १७८० में निधन हुआ था। ये दिल्ली के रहनेवाले थे। शाह आलम के उस्ताद थे। जब वहाँ राजनीतिक उथल-पुथल हुई और कोई गुण-ग्राहक न रहा, तब लखनऊ चले आए और यहाँ पहले नवाब शुजाउद्दौला और फिर आसफुद्दौला के दरबारी शायर हो गए। फारसी और उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे। पर उन्होंने कुछ कविता हिंदी में भी की जो पहेलियों के रूप में है। मैालवी मुहम्मदहुसैन 'आजाद' ने 'आबेहयात' में लिखा है—"(सौदा की)...पहेलियाँ वगैरा अपनी अपनी तर्ज में लाजवाब हैं।"

खुसरो की हिंदी पहेलियाँ तो हिंदी-जगत् के सामने आ चुकी हैं, पर जहाँ तक हम जानते हैं सौदा की पहेलियों की ओर अभी तक किसी का विशेष ध्यान नहीं गया।

सौदा की कविता का संग्रह जो हमारे सामने है, नवलकिशोर प्रेस का लीथो में छपा हुआ अत्यंत अशुद्ध है। एक तो दोष-पूर्ण उर्दू अक्षरों की लिखाई, दूसरे ऐसा जान पड़ता है कि मूल कापी शायद शिकस्त (घसीट) में लिखी हुई थी जिससे हिंदी न जाननेवाले प्रेस के कातिबों (लेखकों) ने जो न पढ़ा गया उसे अनुमान से मनमाना नकल कर दिया। अतः कई पहेलियों के कुछ शब्द बहुत सोच-विचार करने पर भी नहीं पढ़े गए। इसलिये हमने विवश होकर उनको छोड़ दिया है।

भाषा की दृष्टि से इन पहेलियों में ब्रज-भाषा तथा कुछ बैसवाड़ी का रंग पाया जाता है।

(१)

अजब तरह की है इक नार। उसका क्या मैं करूँ बिचार॥
दिन वह डूबे पी के संग। लाग रहे निस वाके अंग॥
दिया बरे तो वह सरमाय। ढक से सरक वह दूर हो जाय॥

(परछाईं)

(२)

गागर तरे जल भरा, सिर पर लागी आग।
बाजन लागी बाँसुरी, निकसन लागे नाग॥

(हुक्का)

(३)

एक नार की बान दिवानी। लोहू भखै तजै जब पानी॥

(जोंक)

(४)

एक तरवर का फल है नर। पहले नारी पीछे नर॥
वा फल का यह देखो हाल। बाहर खाल औ भीतर बाल॥

(आम)

(५)

मारे से वह जी उठै, बिन मारे मर जाय।
बिना पाँव जग-जग फिरै, हाथों हाथ बिकाय॥

(तबला मृदंग)

(६)

'खर' आगे औ पाछे*'कान'। जो बूझै सो चतुर सुजान॥

(खरगोश)

(७)

दो काने जब अंग मिलावैं। छाती जोरैं एक कहावैं॥
आँख अँगुरिया करते जागैं। संमुख होकर काटन लागैं॥

(कतरनी)

---

* कान की फारसी गोश है।

(८)

एक नार देखन को आवै। जो देखै सो आँख लगावै॥

(ऐनक)

(९)

इक तिय जासों आँख मिलावै। देखनहारा नाक चढ़ावै॥
है कोई ऐसा याकों बूझै। जो बूझै जिन्ह थोड़ा सूझै॥

(ऐनक)

(१०)

एक पुरुख वह सबको भावै। बिना समय कोई हाथ न लावै॥
मैंने कह दिया वाका नाँव। बूझ पहेली या छाड़ो गाँव॥

(पंखा)

(११)

एक नार ऐसन भई, थरथराय सब देह।
वाही के संमुख रहै जासों लागी नेह॥

(दिशासूचक यंत्र)

(१२)

बहुत काम का है इक नर। आवे धड़ में उसका घर॥
कुबड़ा होकर घर में पैठे। काम करे नहीं ठाला बैठे॥

(चाकू)

(१३)

बिरवा कहीं, है नहीं, ना वह डार न फूल।
यह अचरज देखौ सखी, एक पात औ फूल॥

(ढाल)

(१४)

इक राजा के घर में रानी। तले के पेंदे पीवै पानी॥
लाजों मारे डूबी जाय। नाहक चोट परोसी खाय॥

(जल में कटोरा डुबाने से समय-सूचक यंत्र)

(१५)

रात समय इक मेघा आया। फूलों पातों सब को भाया ॥
आग दिए वह होवै रूख। पानी दिए वह जावै सूख ॥
(अनार-आतशबाजी)

सौदा शिया थे। अतः उन्होंने बहुत से मरसिए भी लिखे हैं जिनमें करबला के रण-क्षेत्र में यजीद द्वारा इमाम हसन और हुसैन तथा उनके कुछ कुटुंबियों के मारे जाने और स्त्रियों आदि की दुर्दशा का बड़े करुण शब्दों में वर्णन है। इनमें से कुछ मरसिए हिंदी भाषा में हैं। इसलिये हम कुछ उनकी भी बानगी देते हैं।

कासें कहिये बात, कौन सुन के बूझे।
रोवत हैं दिन रात, हुसैना रन में जूझे ॥
नैनन बरसत नीर, कहत उमगत है छाती।
प्यासे मारे हाय नबी के ऐसे नाती ॥
दोहा—गेरू से कपड़े रँगे, मुख पर मले भभूत।
पूछें बीबी फातमा, कित गयो मेरे पूत ॥

रो रो जैनब कहैं हाय तुम मर गए भाई ॥
बदल तुम्हारे आज हमें क्यों मौत न आई ॥
पूछत नहीं कोउ बात, बिपत के हैं हम मारे।
कहाँ छिपैं अब जाय कहाँ दुख में दुखियारे ॥
दोहा—बाबा के तुम लाडले, नाना के तुम चैन।
अम्माँ प्यारे कहाँ गए मेरे बीर हुसैन ॥

वहि सूरज, वहि चाँद, वही निकसत है तारो।
शाह बिना चहुँ ओर भयो जग में अँधियारो ॥
लेतहि जाको नाँव, लोग सब सीस नवावैं।
सो कहो तोको आज कहाँ हम ढूँढ़न जावैं ॥
दोहा—कैसें अब मन में धरैं, लोग कुटुम के धीर।
जापर बीती हो कभू सो जानै यह पीर ॥

लाग तबर तरवार, बदन से निकसत लोहू।
सीस कटो बिन नीर, परो तड़फत ज्यों रोहू॥
तन माटी में डार, काट के सीस तुम्हारो।
हमको बैरी घेर चले हैं देस निकारो॥
दोहा—सीस खुली सब बीबियाँ, ऊँटों पर असवार।
प्यादे जैनुलग्राब्दीं खींचत जाँय मुहार॥

अब कोउ छोरत नांहि ये बैरी के बरके बानी (?)।
जात लिए वा राह मिलत नहिं जामें पानी॥
शाम* को बेबस हम तो चले हैं, रोवत बन में।
लोथ अकेली शाह की है–है! रह गई रन में॥
दोहा—पाँवों में काँटे चुभैं राह चलै नहिं जात।
बैरी बन होंगे भई आज डार औ पात॥

तुम्हरे पाछे बीरन ऐसो हम दुख भरते।
जो तुम हमको मार पहिल पग रन में धरते॥
घर में बैरी फिरैं उतारत सब को गहनो।
बीरा अब किस काम हमारे जग में रहनो॥
दोहा—ले गए बैरी लूट के घर को मालो-मताल।
दीजे कहाँ से अब कफन कोई न छाड़ो रुमाल॥

खींच खींच तरवार यजीदी हमैं डरावैं। आबिद को बिस्तर पर से बरजोर उठावैं॥
जित देखो उत देत दिखाई अब दुख दूनो। तुम बिन भाई आज मदीनो हो गयो सूनो॥
दोहा—बसे कि ऊजड़ हुई वह आज हमारो भाँव (?)।
अब तो आए करबला, छोड़ मदीना गाँव॥

अम्माँ जाए बीर निपट बाबा के प्यारे। फिर न फिरे ऊधर से ऐसे कहाँ सिधारे।
बीर तुम्हारे मरन हतो बैरी घर लूटैं। हमसे बंदीवान कहो कैसे के छूटैं॥
दोहा—साथ तुम्हारे जो हते, मर गए सीस कटाय।
शहर मदीने फिर हमैं को अब दे पहुँचाय॥

---

* सीरिया देश जहाँ यजीद इन सबको पकड़कर ले गया था।

अपना कोऊ रहो न जग में काको टेरौं । हैं बैरी अब साथ तिन्हें मैं कैसे मेरौं (!) ॥
बीर भतीजे परे हमारे रन में लोटैं । देख के उनको हम सब सिर के बार खसोटैं ॥

दोहा—थे जो सब के सीस के, दीन दुनी में ताज ।
सो तो रन में जूझ के रूल गए खाक में आज ॥

पाव को अपने देख सकीना थावे (!) रोवै । मिलत न इतना नीर कि वाके तन को धोवै॥
थावै सिर पर होंठ यह चावत प्यास के मारे । बाबा देव जवाब, सकीना तुम्हें पुकारे ॥

दोहा—रह न सकत मैं एक पल, छोड़त बनत न तोहि ।
रोऊँ ना तो का करौं, बिपत पड़ी है मोहि ॥

और कहीं मैं कहा सुनौ कासिम के दुख को । देखन पाई नेक न दुलहिन वाके मुख को ।
ब्याह में जीता रहा न कोऊ इतो, सँगाती । या दूल्हा के साथ गए मर सभी बराती ।।

दोहा—घर घेरे थावे सभी, बन के मागैं नेग ।
दीनो पूत का सीस अब, दूल्हा की माँ नेग ॥

बेटे हो बलिहार तुम्हारे मुख सें बोलो । सोवत हुइ बड़ी बार तनिक तो आँखें खोलो ॥
जीवत हो तो बेग करो अब हमसे बतियाँ । मर गए हो तो कहो लगौं मैं काके छतियाँ॥

दोहा—बाबा जो तुम देख लो, सभी कुटुम के लोग ।
अब के बिछुड़े कब मिलैं, नदी-नाव-संजोग ॥

पानी पर अब्बास अली की बाँहैं काटीं । सुन-सुन यह दुख हाय हमारी छाती फाटीं ॥
ऐसे बैरी कौन हते बेदर्द कसाई । असगर की जिन एक ही तीर से प्यास बुझाई ॥

दोहा—ताल भरे सब जगत की, नदियाँ बहैं हजार ।
तापर पानी ना मिलै, कासें करैं पुकार ॥

जानूँ जो मैं ठौर ठिकानों सभैं बताऊँ । रूस गए हैं कहूँ तो उनको बेग मनाऊँ ॥
बात कहो मैं कासें बानी को अब मेरी । सारे वारिस राख के पल में हो गए ढेरी ॥

दोहा—रहा न कोऊ सीस पर, हम हैं बन्दीवान ।
बेग छुड़ाओ या नबी अहले हरम को आन ॥

कह मोसों अब 'सोदा' कित गयो खिवैया । बूड़ गई बिन नीर के घर की नैया ॥
जिनको कहत हैं लोग है वही सुखिया । बिन वारिस हैरान फिरत हैं होकर दुखिया ॥

दोहा—रोवत निसदिन जात है, भरि भरि आवत नैन ।
कहाँ जीत संसार को, प्यासो गयो हुसैन ॥

चयन

सम्मेलन की घोषणा

अखिल भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने अबोहर में हुए अपने ३०वें अधिवेशन में हिंदी और हिंदुस्तानी शब्दों के प्रयोग के विषय में अपनी नीति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण किया है। वह इस घोषणा के रूप में है—

हिंदी और हिंदुस्तानी शब्दों के प्रयोग के बारे में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और उसकी समितियों की, विशेषकर उसकी राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति की, क्या नीति है, इस विषय में कुछ भ्रम उपस्थित हुआ है और कथनोपकथन प्रकाशित हुए हैं, इसलिये अपनी नीति का स्पष्टीकरण करने के हेतु सम्मेलन निम्नलिखित घोषणा करता है—

(१) प्रारंभ से ही सम्मेलन ने अपनी भाषा और राष्ट्रभाषा को हिंदी कहा है और उस भाषा तथा नागरी लिपि की उन्नति और प्रचार ही उसका उद्देश्य रहा है। द्वितीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में जो पहली नियमावली प्रयाग में स्वीकृत हुई उसमें तथा उसके पश्चात् अब तक जितने भी संशोधन उस नियमावली में हुए उन सबसे यह प्रकट है कि सम्मेलन की भाषा का नाम हिंदी है—यद्यपि साहित्यिक अथवा प्रचार की दृष्टि में और स्थानों की विभिन्नता के कारण उसके रूप में शब्दावली का कुछ अंतर होना स्वाभाविक है।

(२) वास्तव में उर्दू भी हिंदी से उत्पन्न अरबी-फारसी मिश्रित एक रूप है। हिंदी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का समावेश है, किंतु उर्दू की साहित्यिक शैली, जो थोड़े से आदमियों में सीमित है, हिंदी से इस समय इतनी विभिन्न हो गई है कि उसकी पृथक् स्थिति सम्मेलन स्वीकार करता है और हिंदी की शैली से उसे भिन्न मानता है।

(३) "हिंदुस्थानी" या "हिंदुस्तानी" शब्द का प्रयोग मुख्यकर इसलिये हुआ करता है कि वह देशी शब्द व्यवहार से प्रभावित हिंदी शैली तथा

अरबी-फारसी शब्द-व्यवहार से प्रभावित उर्दू शैली दोनों का एक शब्द से एक समय में निर्देश करे। कांग्रेस, हिंदुस्तानी एकेडेमी, और कुछ गवर्मेंट विभागों में इसी अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है और होता है। कुछ लोग इस शब्द का प्रयोग उस प्रकार की भाषा के लिये भी करते हैं जिसमें हिंदी और उर्दू शैलियों का मिश्रण हो।

इस प्रकार निश्चित अर्थों में उर्दू और हिंदुस्तानी शब्दों का प्रचलन है। इस विषय में सम्मेलन का कोई विरोध नहीं है, किंतु सम्मेलन साहित्यिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से, अपने और अपनी समितियों के काम में हिंदी शैली का और उनके लिये हिंदी शब्द का ही व्यवहार और प्रचार करता है।

(४) राष्ट्रीय सजगता के विस्तार और राष्ट्रीय भावना के उत्थान के साथ साथ हिंदी का राष्ट्रीय रूप, दिन-दिन विकसित हो रहा है। भिन्न-भिन्न प्रांतों से आए हुए तथा भिन्न-भिन्न प्रभावों से उत्पादित नए शब्दों का भी उसमें धीरे धीरे स्वभावतः समावेश होगा। जीवित क्रियाशील तथा हिंदी की सार्वभौमिक प्रतिनिधि संस्था के कर्त्तव्य-पालन में सम्मेलन इस विकास का आवाहन और स्वागत करता है।

(५) राष्ट्रभाषा होने के कारण प्राचीन समय से हिंदी सब प्रांतीय भाषाओं की बड़ी बहिन है, उसके और उसकी छोटी बहिनों के स्वरूपों में माता का अमर सौंदर्य छलकता है। बहिनें एक दूसरे के रूप में अपना रूप भी देखती हैं। उनका आपस का प्रेम स्वाभाविक है। बड़ी बहिन छोटी बहिनों के अधिकार सुरक्षित रखती है। उसका अपना घर सब बहिनों के लिये खुला है और उसके घर में ही सब बहिनों को आपस में मिलने और मिलकर राष्ट्रोपासना की सुविधा है।

सच्ची राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित सब देशभक्तों से सम्मेलन अनुरोध करता है कि राष्ट्रीय उत्थान, संघटन और एकीकरण में भाषा की शक्ति का अनुभव कर राष्ट्र-भाषा हिंदी के प्रयोग और प्रचार में निष्ठा और दृढ़ता से संलग्न हों।

—कृ।

समीक्षा

अवर बेसिक वोकेबुलरी—सबकी बोली—प्रकाशक प्रो० साधुराम एम० ए०, मंत्री दी इंटरनेशनल एकेडेमी आव इंडियन कल्चर, लाहौर; मूल्य असूचित।

"इस देश की शिक्षा और शासन की व्यवस्थाएँ भारतीय भाषाओं की उपेक्षा करने की दोषी रही हैं। उन्होंने व्यवस्थित रूप से देशी शब्दावली का दलन किया है। अब राष्ट्रीय चेतना के उत्थान के साथ भाषा के प्राणभूत विषय में आत्मव्यंजन की प्रेरणा प्रतिदिन अधिक बलवती हो रही है। और यह उसी प्रेरणा का फल है कि राजनीतिशास्त्रियों और शिक्षा-शास्त्रियों के 'साधारण भारतीय' (भाषा) का, जो अपनी सुंदरता और सावकाशता से उन्हें विमुग्ध कर देनेवाला एक महाभवन है, यथार्थ स्वरूप दिखाने के लिये बहुसंख्य भारत-आर्य वाक्प्रयोगों के तुलनात्मक भाषाविज्ञान का साहाय्य उपलब्ध किया गया है।" (भाषांतरित) इस प्रकार यह 'अवर बेसिक वोकेबुलरी' (हमारा आधारिक शब्दकोश) अथवा 'सबकी बोली' 'दी इंटरनेशनल एकेडेमी आव इंडियन कल्चर' (भारतीय संस्कृति की अंतर्राष्ट्रीय विद्वत्परिषद्) लाहौर के अधिष्ठाता प्रोफेसर डा० रघुवीर, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० एट फिल० के द्वारा प्रस्तुत हुई है। इस कोश में भारत-आर्य भाषा-परिवार की, सन् १९३१ के जनगणना-विवरण के अनुसार भी, सर्वाधिक प्रचलित भाषा, पश्चिमी हिंदी के—जिसे साधारणतः हिंदी या हिंदुस्तानी भी कहते हैं—चुने शब्द और उनके आगे मुख्यतः काश्मीरी, पंजाबी, नेपाली, बंगाली, सिंधी, गुजराती और मराठी के उनके विभिन्न रूप तथा यथासंभव उनके संस्कृत रूप भी संगृहीत हैं। इनके साथ अन्य भारतीय भाषाओं का भी, जिनमें सजातीय शब्द मिलते हैं, उल्लेख हुआ है—यथा उत्तरी और उत्तर पश्चिमी पहाड़ी में काफिरी और दरदी (विशेषतः शीना), पश्चिमी पहाड़ी, कुमाऊनी (मध्य

पहाड़ी), जिप्सी (जो प्राय: पंद्रह शताब्दी पूर्व अपना भारत देश छोड़े हुए निगृहों की पश्चिमी एशिया से ब्रिटिश द्वीपों तक फैली हुई भाषा है और जिसमें प्रकृत भारतीय शब्दों की बहुलता है) और सिंहली (जो भी भारत के बाहर प्रचलित एक भारतीय भाषा है)। परंतु इनके शब्दरूपों को रखना कोश-प्रकाशन के प्रस्तुत प्रयोजन के लिये आवश्यक नहीं समझा गया है। लहँदा, असमी, बिहारी तथा उड़िया को गौण स्थान दिया गया है। हिंदी परिवार की पूर्वी हिंदी और राजस्थानी तथा भीली बिल्कुल छोड़ दी गई हैं। कोश की प्रस्तावना में यह भी सूचित किया गया है कि इसमें कोई ऐसा शब्द नहीं रखा गया है जो कम से कम पाँच करोड़ प्राय: असाक्षर पुरुषों, स्त्रियों और बालकों के व्यवहार से प्रमाणित नहीं है, इसमें बाहर से लिए हुए शब्द नहीं हैं और न भारतीय उत्पत्ति के विद्वत्सुलभ शब्द ही हैं और ऐसे शब्दों में भी इसमें संकलन उन्हीं का हुआ है जिनके संबद्ध रूप भारत के अधिक विस्तृत भाग में मिलते हैं।

पुस्तक में डा० रघुवीर की ७ पृष्ठों की प्रस्तावना के बाद ९४ पृष्ठों में ६६९ शब्दों का कोश है। अवश्य यह कोश अपने प्रस्तुत प्रयोजन के अनुसार संक्षिप्त, उदाहरण-स्वरूप ही है। प्रस्तावक ने बताया है कि यह कम से कम कुछ हजार शब्दों तक बढ़ाया जा सकता है। साथ में भारत-आर्य भाषाओं का एक नामशून्य सादा मानचित्र है जिसमें भाषाओं के साथ उनके बोलनेवालों की संख्याएँ दी हुई हैं, पर पश्चिमी तथा मध्य पहाड़ी और नेपाली भाषाओं के कोष्ठ संख्याशून्य हैं। चित्र में मान-संकेत नहीं है। न जाने क्यों यह आवश्यक नहीं समझा गया है।

कोश के कुछ शब्द ये हैं:—

करना Kas करुन् Pan करणां Nep गर्नु Ben करा Sin करणु Guj करवुँ Mar करणेँ—Skt करोति ॥ Cognates in Gipsy, Kafiri, Dardic, Lahanda, Western Pahari, Assamese, Oriya, Singhalese, etc.

ठीक Kas ठीकुन् Pan Guj Mar ठीक् Nep ठिक् Ben ठिक Sin ठीकु ॥ Cognates in Assamese and Oriya.

देश Kas दीश् Pan Nep Ben Guj Mar देस् Sin देसु—Skt देश ॥ Cognates in Gipsy, Kafiri, Dardic, Shina, Lahanda, Western Pahari, Oriya, Singhalese, etc.

पुस्तक Kas पूथि Pan Sin Guj Mar पोथी Nep पोथि Ben पुथि—Skt पुस्तक ॥ Cognates in Assamese, Oriya, Singhalese, etc.

मनुष्य Kas मह्न्युवु Pan Guj माणस् Nep मानिस् Ben मानुस् Sin माण्हू Mar माणुस्—Skt मनुष्य ॥ Cognates in Gipsy, Kafiri, Dardic, Shina, Western Pahari, Assamese, Oriya, Singhalese, etc.

लगना Kas लगुन् Pan लग्गणा Nep लाग्नु Ben लागा Sin लगणु Guj लाग्वुँ Mar लागणेँ—Skt लग्यति ॥ Cognates in Dardic, Lahanda Western Pahari, Assamese, Oriya, Singhalese, etc.

कोश में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि प्रायः सभी प्रकार के शब्द संगृहीत हैं। इनके विभिन्न रूप प्रायः यथेष्ट अनुसंधान और सावधानी से रखे गए हैं।

प्रस्तावक ने कहा है कि "ये शब्द भारत की भविष्य साधारण भाषा के पुष्ट आधार हैं। यदि हम इन पर निर्माण करें तो निःशंक निर्माण करेंगे और अपनी भूमि पर ही अनजान होने की लज्जा से अपने को बचा लेंगे।" (भाषांतरित) 'साधारण भारतीय (भाषा) का यथार्थ स्वरूप दिखाने' और 'भारत की भविष्य साधारण भाषा के पुष्ट आधार' प्रस्तुत करने के उद्देश्य और प्रयोजन से उदाहरण स्वरूप ही इस आधारिक शब्दकोश या 'सबकी बोली' का प्रकाशन बहुत महत्त्वपूर्ण उद्योग है। हमारे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में राष्ट्रभाषा के निश्चय के प्रश्न को कुछ अतात्त्विक धारणाएँ बहुत जटिल बना रही हैं। भारत के मध्यदेश की भाषा पश्चिमी हिंदी या हिंदी संस्कृत, शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश की परंपरा से इस देश की केंद्रीय आर्यभाषा और साधारण भाषा है, यह भाषावैज्ञानिक तथ्य है।

राष्ट्रभाषा पद की हिंदी सहज अधिकारिणी है। परंतु इस हिंदी की ही एक कृत्रिम, विदेशी शैली उर्दू मुख्य उलझन उपस्थित करती है। एक ओर से इसे देश की साधारण भाषा घोषित किया जाता है और शोचनीय बात यह है कि इसके साथ सांप्रदायिक आग्रह भी लगा है, यद्यपि यह एक पूरे संप्रदाय की भाषा-शैली भी सिद्ध नहीं होती। और कुछ ओर से हिंदी और उर्दू की मिश्र कल्पना हिंदुस्तानी के नाम से चलाई जा रही है। अतः भारत की साधारण भाषा, राष्ट्रभाषा के विषय में अनेक तर्क-वितर्क और उद्योग चल रहे हैं। इस बीच इस विषय में भाषावैज्ञानिक तथ्य को और उसके निश्चित संकेत को राजनीतिशास्त्रियों और शिक्षा-शास्त्रियों के सम्मुख इस आधारिक शब्दकोश के प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत कर लाहौर की एकेडेमी ने बहुत प्रशस्य कार्य किया है। हम इस महत्त्वपूर्ण और सुंदर प्रकाशन का सादर स्वागत करते हैं और देश की साधारण भाषा, राष्ट्रभाषा या राज्यभाषा, के सभी अधिकारी विचारकों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट करते हैं।

हमें विश्वास है कि एकेडेमी इस क्षेत्र में और कार्य कर रही है और वह एक पूर्ण भारतीय-आधारिक-शब्दकोश प्रकाशित करेगी। इस प्रसंग में यदि वह बेसिक इँग्लिश के समान स्वतःपूर्ण आधारिक हिंदी की व्यवस्थित योजना पर भी कार्य करे जिसमें कुछ निश्चित संख्या में शब्द इस दृष्टि से ही न संगृहीत हों कि वे साधारण हों अपितु इस दृष्टि से भी कि उनके द्वारा साधारण व्यवहार का पूरा काम चल जाय और उनके आधार पर उच्च हिंदी का अध्ययन भी किया जा सके तो यह एक विशेष महत्त्व का प्रयोग होगा।

—कृ।

अशोक—लेखक प्रो० हरिश्चंद्र सेठ, एम० ए०, पी-एच्० डी०; (भारतइतिहासमाला की दूसरी पुस्तक) प्रकाशक, राजपब्लिशिंग हाउस, बुलन्दशहर। मूल्य १)

हिंदी में अशोक-विषयक साहित्य अभी इना गिना है। जैसे सम्राट् अशोक सर्वसम्मति से एशिया की एकता और विश्वशांति के दीप-स्तंभ माने जाते हैं, वैसे ही उनके संबंध में विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेक ग्रंथों में विचार होने की आवश्यकता है। लेखक ने संक्षेप में परंतु प्रामाणिकता के साथ प्रथम दस अध्यायों में अशोककालीन इतिहास, सम्राट् के जीवन और देश की दशा का विवेचन किया है। दूसरे भाग में, १४० पृष्ठों में, अशोक के समस्त लेखों का मूल पाठ, भाषानुवाद और उनके प्राप्ति-स्थान का वर्णन है। विद्यार्थियों के लिये इस प्रकार समस्त मूल सामग्री को सुलभ रूप में प्रस्तुत करने के लिये प्रो० सेठ बधाई के पात्र हैं। शिलालेखों और स्तंभ-लेखों के सभी विविध पाठ प्रत्येक स्थान से पूरे-पूरे इस पुस्तक में उद्धृत किए गए हैं। इससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। पुस्तक के संशोधन में और सावधानी की आवश्यकता है। जैसे 'इसिल' नामक स्थान को 'इसल' लिखना अनुचित है, वैसे ही 'पृथक्' शब्द को 'प्रथक्' छापना भी खटकता है। आशा है, प्रो० सेठ इसकी भाषा को बारीकी के साथ शुद्ध कराकर अगला संस्करण प्रकाशित करेंगे जिससे पुस्तक छात्रों के लिये बिल्कुल प्रामाणिक बन जाय।

—वासुदेवशरण।

जाट-इतिहास—लेखक ठाकुर देशराज, जघीना, भरतपुर; प्रकाशक ब्रजेंद्र-साहित्य-समिति, आगरा; १९३४; पृष्ठ-संख्या १४-७४७; मूल्य ५) राजसंस्करण २५)।

वर्तमान युग में इतिहास का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। पिछले १०० वर्षों में इतिहास का स्वरूप भी बहुत बदल गया है। अब इतिहास में केवल राजाओं-महाराजाओं और उनके मुख्य सहायकों तथा प्रतिद्वंद्वियों की कृतियों और आकांक्षाओं का ही वर्णन नहीं रहता; अपितु अब उसमें किसी जन-समूह के सर्वांगी उत्थान-पतन का वैज्ञानिक विश्लेषण और वर्णन होता है। आजकल इतिहास-लेखन-कला भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न उद्देश्यों

से प्रेरित हो रही है। कहीं पर इतिहास से अर्थ समझा जाता है अतीत का यथासंभव पक्षपातरहित विशुद्ध वर्णन। इसमें समाज अथवा राष्ट्र के गुण-दोष तथा विजय-पराजय का समान रूप से वर्णन किया जाता है और यह धारणा रहती है कि हम अपने पूर्वजों के गुणों का अनुकरण तथा उनके दोषों का प्रतिकार करते हुए वर्त्तमान काल की सामाजिक तथा अंतर्राष्ट्रीय गुत्थियों को अधिक सुगमता से सुलझा सकेंगे। दूसरी मनोवृत्ति यह है कि वर्तमान जनता को अपने पूर्वजों का ऐसा गौरवमय वृत्तांत बताया जाय जिससे उनके हृदय में अहंभाव और परंपरागत सर्वश्रेष्ठता के भाव दृढ़ता से घर कर लें। इसमें राष्ट्र की पिछली सफलताओं को बहुत बढ़ाकर और असफलताओं को आकस्मिक घटनाओं, पड़ोसियों की धोकेबाजी तथा अपनी सरलता का फल बताया जाता है और उनके स्वरूप को यथासंभव न्यूनतम बनाया जाता है। तीसरी मनोवृत्ति यह है कि इतिहास इस प्रकार लिखा जाय कि उसके पढ़नेवाले पर यह प्रभाव पड़े कि संसार के विभिन्न राष्ट्रों तथा एक ही राष्ट्र के विभिन्न अंगों ने अतीत काल से लेकर इस समय तक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से एक दूसरे की सेवा की है। हमारी वर्त्तमान सभ्यता इस पारस्परिक सहयोग तथा विचार-विनिमय का फल है। अस्तु, इतिहास से उन घटनाओं को हटा देना चाहिए जिससे दो, अथवा दो से अधिक, जनसमूहों में घृणा या विद्वेष की भावना उभड़ने की आशंका हो। अतीत के आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक संघर्षों का विशद विश्लेषण केवल हानिकर ही हो सकता है। अस्तु, इनका विवरण या तो छोड़ दिया जाय, अथवा केवल उनके कुप्रभावों का वर्णन किया जाय, और उनके कारणों के वर्णन द्वारा दोषी व्यक्ति या व्यक्तियों के खोज निकालने की कोशिश न की जाय।

कुटुंबों तथा जातियों के इतिहास के लेखक प्रायः दूसरी मनोवृत्ति से प्रभावित होकर लेखनी उठाते हैं। हमारे देश का अभी तक कोई सर्वांग-पूर्ण इतिहास नहीं है। बहुत से राजवंशों तथा कई एक शतियों का ज्ञान अभी कुछ नहीं के बराबर है। इसलिये किसी भी जाति, राजवंश, या भारत-भाग का इतिहास हमारे लिये बहुत उपयोगी है और उनके लेखक

जनता की कृतज्ञता के पात्र हैं। लेकिन यदि हमारे देश की ३००० से अधिक हिंदू जातियों, सैकड़ों मुस्लिम फिरकों, वर्गों, सिक्खों तथा ईसाइयों के अलग-अलग विवरण अर्ध ऐतिहासिक रूप में अपनी अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिये लिखे जायँ तो उनसे इतिहास निर्माण और राष्ट्रीय-संगठन दोनों ही की दृष्टियों से लाभ की अपेक्षा हानि होने की ही अधिक आशंका है।

जाट-जाति भी हमारे देश की दूसरी युद्ध-प्रिय जातियों की ही भाँति देश की रक्षा में काफी सहयोग देती रही है। प्राचीन भारत के इतिहास में डा० जायसवाल के मतानुसार गुप्त राजे जाट कहे जा सकते हैं यद्यपि प्रभावती गुप्ता का अपने को धारण-गोत्रीय कहने से ही उसके पिता का वंश उस गोत्र का होना सब विद्वानों को मान्य नहीं है। इस प्रकार दूसरे इतिहासकारों की दृष्टि में जाटों का गौरवकाल हर्ष की मृत्यु के पश्चात् प्रारंभ होता है। विद्वान् लेखक ने २००० ईस्वी पूर्व से हर्ष के समय तक के युग को ही जाटों के विशिष्ट गौरव का युग सिद्ध करने के लिये काफी प्रयत्न किया है। इस संबंध में उन्होंने जाटों को गण-संघतंत्री क्षत्रिय माना है। उनकी धारणा है कि प्राचीन भारत का गौरव बहुत हद तक जाटों की ही कीर्ति पर निर्भर है। जितनी युक्तियाँ और सामग्री प्रस्तुत पुस्तक में मौजूद हैं उनके आधार पर यह धारणा अभी ऐतिहासिक सत्य की कोटि में नहीं पहुँच सकी है। लेकिन यदि जाटों का निराकरण किसी राजनैतिक आदर्श-विशेष के आधार पर किया जाय तो चंद्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन, रंजीतसिंह आदि इस समूह के अंदर नहीं आ सकते।

लेखक ने प्रवाह-युक्त भाषा में पुस्तक को विश्वास के साथ लिखा है और संभव है उनके सजातीयों को इसे पढ़कर बहुत कुछ विश्वास हो जाय। पुस्तक परिश्रम के साथ लिखी गई है। यदि जाट-जाति के उत्थान में यह पुस्तक सहायक हो सके तो उसकी ऐतिहासिक अपूर्णताओं की उपेक्षा की जा सकती है। पुस्तक की छपाई और गेट-अप संतोषजनक हैं। यत्र तत्र चित्र भी दिए गए हैं जो वर्तमान तथा प्राचीन जाट-महापुरुषों के (लेखक के मतानुसार) हैं।

भारतीय जाटों संबंधी सभी जानने योग्य बातों का संग्रह करने का काफी सफल प्रयत्न किया गया है। जाटों की उत्पत्ति, उनके प्राचीन तथा वर्तमान राजवंश, जाटों का वर्तमान भारत में विस्तार, जाटों की वर्तमान संस्थाएँ आदि सभी विषयों का सिलसिलेवार विवरण दिया गया है। श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा अंधक, वृष्णि, भोज और कुकर लोगों का एक संघराज्य निर्माण किया गया था। इस राज्य के सदस्य ही प्रथम जाट हुए। लेखक ने इस घटना से जाटों की उत्पत्ति बताकर उन सभी राज्यों के सदस्यों को जाट बताया है जिनसे साम्राज्यवादी भावनाओं को रोकने के लिये ऐसे संघ बनाए गए हों। इस प्रकार शाक्य, लिच्छवि, मौर्य, क्षुद्रक, मालव, शिवि आदि राजवंशों को जाट माना गया है। जिस प्रदेश में ये लोग रहते थे या जिन राजवंशों से इनका विवाह संबंध था उनको भी जाट मान लिया गया है। शायद लेखक का मत यह है कि जाट आरंभ में एक राजनैतिक आदर्श के माननेवाले थे और बाद में उनसे संबंधित सभी लोग—उनके आदर्श चाहे जो रहे हों—जाट जाति बन गए। वे जाटों को राजपूतों से निकृष्ट नहीं वरन वैदिक धर्म-पालन की दृष्टि से अधिक शुद्ध क्षत्रिय मानते हैं। उनका विचार है कि ब्राह्मणों और राजपूतों ने मिलकर उनको पतित बनाने का सफल षड्यंत्र किया था।

मुगल-कालीन और आधुनिक काल का विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक संतोषजनक है। विभिन्न प्रांतों में जो जाट इलाकेदार, राजे या साधारण लोग पाए जाते हैं उनका अलग-अलग विवरण दिया गया है। जाटों के वर्तमान गोत्रों को प्राचीन राजवंशों से निकला हुआ बतलाया गया है। जाटों की विदेश-यात्रा आदि का प्रकरण मनोरंजक है लेकिन ऐतिहासिक नहीं।

फिर भी अपनी न्यूनताओं के सहित अपने वर्तमान रूप में भी पुस्तक काफी काम की है और जाट-जगत् में इसका विशेष प्रचार होना चाहिए।

जाट-इतिहास—(उत्पत्ति और गौरव खंड)-लेखक ठाकुर देशराज, जघीना, भरतपुर; प्रकाशक मित्र-मंडल प्रेस, आगरा; पृष्ठसंख्या १७२, मू० ॥)।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की 'जाट-इतिहास' नामक बड़ी पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। इसके लिखने का मुख्य उद्देश जाट विद्यार्थियों के व्यवहार योग्य सरल किंतु गौरवमय जाट-इतिहास का निर्माण था। पुस्तक सरल और हिंदी-उर्दू मिश्रित भाषा में लिखी गई है। इसको पढ़ने से पश्चात् जाटों के विषय में साधारण विद्यार्थी की यह अवश्य धारणा होगी कि यह एक महान् जाति रही है और उसके कार्यों पर उनके वंशजों को सहज गौरव होना चाहिए। अस्तु। प्रचार, संगठन तथा जाटोत्थान की दृष्टि से पुस्तक प्रशंसनीय है।

इसमें जाटों की उत्पत्ति, जाति, वर्ण, शासन-प्रणाली तथा विदेशों में औपनिवेशिक यात्राओं का वर्णन किया गया है। पुस्तक लिखने में परिश्रम किया है लेकिन यह कह सकना संभव नहीं कि इसमें वर्णित घटनाएँ स्वीकृत ऐतिहासिक सत्य हैं अथवा विश्वसनीय तर्क-द्वारा प्रमाणित हैं। अस्तु, यह अधिकाधिक विरुद्ध ग्रंथ की कोटि में आती है। इसमें एक जाट-स्थान शीर्षक वाला नकशा दिया गया है जो बहुत ही भोंडा और प्रायः पूर्णतः अशुद्ध है।

—अवधबिहारी पांडेय।

फाउस्ट—अनुवादक श्री भोलानाथ शर्मा, एम्० ए०; डबल क्राउन १६ पेजी आकार के ३१२ पृष्ठ; मूल्य तथा प्रकाशक का नाम दिया नहीं।

महाकवि गेटे का यह नाटक प्राचीन जर्मन-साहित्य का अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है। गेटे अद्भुत प्रतिभासंपन्न भावुक कवि, श्रेष्ठ औपन्यासिक एवं विचारवान आलोचक था। 'फाउस्ट' को धीरे-धीरे करके उसने ६० साल की लंबी अवधि में पूरा किया था। (नाटक के नायक) 'फाउस्ट ने भौतिक सुखों की लालसा में अपने को शैतान के हाथ बेच दिया पर यदि उसको तृप्ति एवं मुक्ति मिली तो निःस्पृह कर्म ही के द्वारा'—इस एक वाक्य में हम इस बृहदाकार ग्रंथ के सारे कथानक को समेट सकते हैं। विचारों की विभिन्नता एवं विशदता, लेखक के विविध एवं विस्तृत अनुभवों का

कथानक में समुचित समावेश तथा दृश्यों की अनेकरूपता के कारण यह ग्रंथ पाश्चात्य आलोचकों द्वारा भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से देखा गया है। ग्रंथ के इन्हीं गुणों के कारण कुछ लोगों का विचार है कि 'फाउस्ट' के द्वारा गेटे ने आत्मवृत्त ही उपस्थित किया है। पुस्तक के आरंभ में दी गई विस्तृत प्रस्तावना में इन विषयों की सम्यक् मीमांसा की गई है, साथ ही गेटे के पूर्व जर्मन-साहित्य की स्थिति, गेटे का जीवनवृत्त, फाउस्ट की आख्यायिका का इतिहास, कथा-संक्षेप, समीक्षा तथा परिशिष्ट-भाग में गेटे की भारत-संबंधी कविता का भी वर्णन किया गया है। यह प्रस्तावना प्राचीन जर्मन-साहित्य की प्रवृत्ति एवं उसके महत्त्व के सम्यक् निरूपण की दृष्टि से भी उपादेय है। 'फाउस्ट' हिंदी संसार में समादृत होगा, इसकी विश्वासपूर्ण आशा है। अनुवादक ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ से हिंदी साहित्य की श्री-वृद्धि की है।

आलोक पुस्तकमाला—मुद्रक और प्रकाशक भारतवासी प्रेस, इलाहाबाद।

इस माला की प्रथम से लेकर आठ पुस्तकें हमारे सामने हैं, जिनके नाम क्रमशः रसखान-रत्नावली, भर्तृहरि-शतक, रास-पंचाध्यायी, स्मृति-शक्ति, रावर्ट क्लाइव, पद्माकर-रत्नावली, घनानंद-रत्नावली, सेनापति-रत्नावली हैं। प्रत्येक का आकार-प्रकार प्रायः समान है और मूल्य प्रत्येक का ||)। पुस्तकें अच्छी और उपयोगी होने के साथ साथ देखने में भी आकर्षक हैं। थोड़े मूल्य में इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान तथा उच्च कोटि के कवियों की रचनाओं का रसास्वादन कराने के लिये यह माला अच्छी है।

बाल-रण-रंग—लेखक ठाकुर नंदकिशोर सिंह 'किशोर'; प्रकाशक भारतीय भंडार, आरा; डबल क्राउन १६ पेजी आकार के ७१ पृष्ठ, मूल्य ||)

अर्जुन और बभ्रुवाहन के युद्ध की पौराणिक आख्यायिका को लेकर लिखा गया यह वीर-रस-प्रधान खंड-काव्य है। वीर रस के बालोपयोगी साहित्य का हिंदी में अभाव-सा है। इस दृष्टि से लेखक की यह रचना महत्त्वपूर्ण है। कविता साधारणतः ओजपूर्ण है और 'युद्धोत्साह' की अंतर्दशाओं की व्यंजना कहीं कहीं बड़ी अच्छी बन पड़ी है। बभ्रुवाहन के

वीर पुत्रोचित गुणों का चित्रण भी सुंदर हुआ है। पुस्तक बालकों के लिये उपयोगी है।

—रामबहोरी शुक्ल

कमला नाटक—लेखक श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक सूरी ब्रदर्स, गनपत रोड, लाहौर; मूल्य ।॥)

यह एक मौलिक सामाजिक नाटक है। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है :—देवनारायण एक जमींदार हैं 'उम्र के बूढ़े, मन के जवान'। बुढ़ापे में दूसरा विवाह करते हैं। उनकी दूसरी पत्नी कमला सुंदर, सुशिक्षित, सच्चरित्रा और सहृदय है। देवनारायण के दो पुत्र हैं—यज्ञनारायण और विश्वनारायण। यज्ञनारायण का गुप्त संबंध एक सुंदर शिक्षित लड़की उमा से हो जाता है जिसके फलस्वरूप शशिकुमार नामक एक पुत्र उत्पन्न होता है। यज्ञनारायण उमा को छोड़ देता है और क्षय से उसकी मृत्यु हो जाती है। उमा समाज के डर से शशि को अनाथालय में रख देती है और अपनी सहेली कमला को उसे सौंप देती है। कमला शशि को अपने पुत्र की तरह प्यार करती है जिसके कारण जनता में प्रमाद फैलता है और कमला के चरित्र पर संदेह किया जाता है। शशि के ऊपर चोरी का अपराध लगाया जाता है। वह भागकर कमला के पास आता है जो उसे आश्रय देती है किंतु इससे देवनारायण का संदेह और भी पुष्ट हो जाता है और वे घर से बाहर निकाल देते हैं। कमला नदी में डूबकर आत्महत्या कर लेती है।

विश्वनारायण अपने पिता की जमींदारी में किसानों को जमींदार के अन्याय के विरुद्ध भड़काता है। उसी के साथ कार्य करनेवाली उमा भी है। विश्वनारायण को आंदोलन के संबंध में जेल जाना पड़ता है परंतु अंत में उसकी विजय होती है और पिता की ममता उसे जेल से मुक्त करा देती है। विश्वनारायण उमा के प्रेम में पड़कर उससे विवाह करना चाहता है। सब कुछ ठीक हो गया परंतु अकस्मात् घर में यज्ञनारायण का चित्र देखकर उमा चौंकती है और उसकी घृणा तथा विद्वेषाग्नि जागृत हो उठती है। पूछने पर वह सारा रहस्य बतलाती है। सुनकर बाबू देव-

नारायण को समाज से घृणा उत्पन्न होती है और वे गिरकर प्राण त्याग देते हैं। कमला की मृत्यु और शशि के जेल जाने को सुनकर उमा मूच्छित हो जाती है और नाटक की समाप्ति होती है।

नाटक की कथा रोचक परंतु वास्तविकता से दूर नहीं है। घटनाएँ स्वाभाविक हैं और चरित्र-चित्रण बहुत सुंदर हुआ है। विशेष कर कमला का चरित्र बहुत सुंदर है। वह सबसे सहानुभूति रखती है परन्तु विश्वनारायण के प्रति उसका वात्सल्य पिता से भी बढ़कर है। अपनी सहेली के पुत्र के लिये वह अपना प्राण भी अर्पण कर देती है। उमा, कवि के शब्दों में, "एक प्रवाह है जो नीचे की ओर सरलता से और उतनी ही सरलता से तूफान, प्रतिक्रिया से, ऊँचे की ओर भी, दूसरी तरफ भी बह गई है।"

नाटक की भाषा चलती खड़ी बोली है और पात्रों के अनुकूल है। केवल कहीं कहीं पर कुछ प्रयोग मुहावरे के प्रतिकूल पड़ते हैं। जैसे—'जिसका खाँय उसी की थाली में छेद करें।' 'दोनों में पृथ्वी-आकाश का अन्तर है।' 'इसी के (यज्ञनारायण के) गर्भ से मेरे एक पुत्र उत्पन्न हुआ।' 'बुलबुले की तरह आशाएँ उठ उठकर मुर्झा गई हैं।' "जिस रास्ते ही नहीं जाना उसके मील गिनने से क्या।" इत्यादि।

फिर भी नाटक अच्छा है और खेलने योग्य है। हम इसे सफल नाटक कहेंगे और नाटककार बधाई के पात्र हैं। पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक है।

—रमापति शुक्ल।

कजली-कौमुदी—संग्रहकर्त्ता श्री कमलनाथ अग्रवाल; प्रकाशक काशी पेपर स्टोर्स, २१ बुलानाला, बनारस सिटी; डबल क्राउन १६ पेजी आकार, पृष्ठ संख्या ३+५+१२९; मूल्य १)।

इस संग्रह में नए-पुराने प्रसिद्ध कजलीकारों की कृतियों के अतिरिक्त भारतेंदु हरिश्चंद्र, 'प्रेमघन', पं० अंबिकादत्त व्यास, पं० श्रीधर पाठक आदि श्रेष्ठ साहित्यिकों की कुछ कजलियाँ भी समाविष्ट हैं। आरंभ में पं० रामनारायण मिश्र ने 'दो शब्द' और पं० सूरजप्रसाद शुक्ल ने कजली उत्सव

का ऐतिहासिक विवेचन देकर पुस्तक को महत्त्व प्रदान किया है। कजलियाँ नए-पुराने लोगों की हैं, नए-पुराने ढर्रे की हैं। देशभक्ति, राष्ट्रीय आंदोलन, सांप्रदायिक एकता आदि विषयों पर कुछ सामयिक रचनाएँ भी हैं। कुछ कजलियाँ भावाभिव्यंजन की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। कजली-प्रवृत्ति को परिष्कृत करने के ध्येय से प्रणीत यह संग्रह संस्कृत समाज को भी रुचिकर होगा, ऐसी आशा है।

पाठक की सुविधा के लिये आरंभ में एक सूची रहती तो अच्छा होता।

—शं० वा०।

समीक्षार्थ प्राप्त

एक धर्मयुद्ध—लेखक श्री महादेव हरिभाई देसाई; प्रकाशक नवजीवन-कार्यालय, अहमदाबाद; मूल्य ॥)।

कोटा राज्य का इतिहास, भाग १-२—लेखक श्री मथुरालाल शर्मा; प्रकाशक कोटा दरबार, कोटा; मूल्य ७)।

गांधीजी—लेखक श्री जुगतराम दवे; प्रकाशक नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद; मूल्य ।=)।

जैन सिद्धांत बोल संग्रह, भाग १-३—संग्रहकर्ता व प्रकाशक, भैरोंदान सेठिया, जैन परमार्थिक संस्था, बीकानेर; मूल्य ४॥)।

तिलोयपण्णत्ती—लेखक, यतिवशभ; प्रकाशक, जैन-सिद्धांत भवन, आरा; मूल्य ।॥)।

नवाबी सनक—लेखक श्री जयनाथ 'नलिन'; प्रकाशक गयाप्रसाद ऐंड संस, आगरा; मूल्य १)।

Pre-Buddhist India by Ratilal Mehta; published by The Examiner Press, Bombay; price Rs. 15/-

बनारसी नाम माला—संपादक श्री जुगलकिशोर मुख्तार; प्रकाशक वीरसेवा-मंदिर, सरसावा, जि० सहारनपुर; मूल्य ।)।

भगवान् बुद्धावतार—लेखक श्री विश्वनाथ शास्त्री; प्रकाशक अखिल भारतीय हिंदू धर्म सेवा-संघ, १०२ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता; मूल्य =)।

भारतीय चीनी मिट्टियाँ—लेखक श्री मनोहरलाल मिश्र; प्रकाशक विज्ञान-परिषद्, इलाहाबाद; मूल्य १।।)।

मर्यादा का मूल्य—लेखक श्री वीरेंद्रसिंह रघुवंशी; प्रकाशक गयाप्रसाद ऐंड संस, आगरा; मूल्य १।।)।

मालिनी-मंदिर—लेखक और प्रकाशक श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री, २८० चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता; मूल्य ।।।)।

मेरा घर—लेखक और प्रकाशक श्री काशिनाथ त्रिवेदी; बड़वानी, मध्य-भारत; मूल्य ≡)।

श्रीहर्ष—लेखक और प्रकाशक श्री वैकुंठनाथ दुग्गल, राम आश्रम हाई स्कूल, अमृतसर।

संत (वर्ष २ अंक ५)—संपादक रामपदार्थदास; प्रकाशक संतकार्यालय, जयपुर; मूल्य २) वार्षिक।

संत-साहित्य—लेखक श्री भुवनेश्वर मिश्र; प्रकाशक ग्रंथमाला-कार्यालय, पटना; मूल्य २)।

संस्कृत का अध्ययन : उसकी उपयोगिता और उचित दिशा—लेखक डा० श्री राजेंद्रप्रसाद; प्रकाशक भारती मंदिर, पटना; मूल्य १)।

सयानी कन्या से—लेखक श्री नरसी पारीख महादेव देसाई, अनुवादक श्री काशिनाथ; प्रकाशक नवजीवन कार्यालय अहमदाबाद; मूल्य ।।)।

हलचल २—लेखक और प्रकाशक श्री चंद्रलाल, सुनार महल्ला, अल्मोड़ा; मूल्य ।।)।

हिंदी-साहित्य में निबंध—लेखक श्री ब्रह्मदत्त शर्मा; प्रकाशक गयाप्रसाद ऐंड संस, आगरा; मूल्य १।)।

विविध

विक्रम संवत् के प्रामाणिक इतिहास का महत्त्व

आगामी विक्रम संवत् २००० (ई० स० १९४३) में नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने अपना स्वर्ण-जयंती महोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाने का निश्चय किया है। इस अवसर पर सभा ने हिंदी साहित्य और भाषा की उन्नति एवं प्रचार के हेतु कई नवीन महत्त्वपूर्ण योजनाओं की व्यवस्था की है। इनमें से श्री संपूर्णानंदजी के प्रस्ताव पर यह भी निश्चय हुआ है कि विक्रम संवत् के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इस अवसर पर उसके वास्तविक मूल और इतिहास को यथासाध्य निर्णय करके प्रकाशित कराने का यत्न किया जाय।

हमारे देश तथा हमारी जाति के इतिहास में विक्रम संवत् का कितना अधिक महत्त्व है, इस पर विस्तार से लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं। हमारे देश में जितने संवत् प्रचलित हैं उनमें सबसे अधिक महत्त्व विक्रम संवत् का है। यही संवत् सबसे अधिक प्रचलित है। हमारे समस्त धार्मिक कार्यों एवं व्यापारी हिसाब-किताब, चिट्ठी-पत्री इत्यादि सबमें इसी वत्सर का प्रयोग होता है। जिस संवत् का प्रचलन देश के एक कोने से दूसरे कोने तक हो, जिसका सदैव से ऐसा ही मान रहा हो तथा जो वास्तव में हमारा राष्ट्रीय संवत् कहलाने का अधिकारी हो, उसकी स्थापना का इतिहास इतना भ्रांत एवं अनिश्चित हो गया हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है। अभी तक यही निश्चय नहीं हो पाया कि इस संवत् का संस्थापक और संचालक कौन था, अथवा ये महाराज विक्रमादित्य—जिनके नाम से यह संबंधित है—कौन थे, कहाँ और कब राज्य करते थे। पाश्चात्य विद्वानों का प्रायः ऐसा मत था और है कि यह मालव संवत् था जिसे गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने ग्रहण करके अपने नाम से चालू कर दिया। परंतु इसका

आधार प्रबल प्रमाणों पर नहीं है। विक्रम संवत् के मूल तथा वास्तविक इतिहास का निर्णय करने के उद्देश्य से अनेक विद्वानों ने गवेषणापूर्ण खोज की है और लेखों द्वारा अपने अपने विचार व्यक्त किए हैं, तथापि वे अभी तक किसी सर्वमान्य परिणाम पर नहीं पहुँच पाए हैं।

यह एक बड़ा सुसंयोग है कि संवत् २००० में, जिसका स्वयं ही राष्ट्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा भारी महत्त्व होना आवश्यक था, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के जीवन के भी ५० वर्ष पूरे होते हैं और इसी वर्ष सभा अपनी स्वर्ण जयंती मनाने जा रही है। अतएव सभा का यह संकल्प अत्यंत शुभ है कि इस अवसर पर विक्रम संवत् की इतिहास संबंधी समस्या का भी समाधान करने का प्रयास किया जाय। इस कार्य के संपादनार्थ सभा ने एक उपसमिति बना दी है। यह समिति एतद्विषयक जो कुछ खोज अब तक हुई है उसकी सूची शीघ्रातिशीघ्र तैयार करके विद्वानों के सुभीते के लिये प्रकाशित करेगी। इसके उपरांत इस समिति का कर्त्तव्य होगा कि—

१—जितने लेख, निबंध आदि विक्रम संवत् पर अब तक प्रकाशित हुए हैं उनका समन्वय करके उनका निष्कर्ष प्रकाशित करे।

२—इस विषय के निर्णयार्थ इतिहासज्ञों की नई स्थापनाओं को एकत्रित करके उन्हें प्रकाशित करे।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारतीय इतिहास के विद्वानों का सहयोग अनिवार्य है। अतएव समस्त इतिहासज्ञों एवं इतिहास-प्रेमियों से प्रार्थना है कि विक्रमाब्द संबंधी स्थापनाएँ, लेख, निबंधादि, अथवा कोई अन्य सूचना, या नए विचार, जो कुछ भी वे भेज सकते हों, मेरे पास भेजने की कृपा करें।

पता :—
बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी,
बनारस।

परमात्माशरण
(एम्० ए०, पी-एच्० डी०)
संयोजक,
विक्रमाब्द-इतिहास-निर्णय-समिति,
काशी नागरीप्रचारिणी सभा।

पंचांग-शोध

यह प्रसन्नता की बात है कि नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से विक्रम की द्विसहस्राब्दी मनाने के अवसर पर पंचांग-शोध का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया है। पंचांग का महत्त्व तो सभी देशों में है, परंतु हमारे देश में जहाँ लोगों का फलित ज्योतिष पर विश्वास है और विवाह, व्यापार, खेती जैसे काम ज्योतिषियों के परामर्श से किए जाते हैं, इस शास्त्र का स्थान बहुत ऊँचा है। गणना में थोड़ी सी भी भूल होने से सैकड़ों व्यक्तियों के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ सकता है। इस समय मेरी समझ में पंचांग संबंधी नीचे लिखे प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय हैं।

(१) संक्रांति की जो तिथियाँ पंचांगों में दी रहती हैं और हमारे घरों में मनाई जाती हैं वे दृश्य गणित की तिथियों से, जो वस्तुस्थिति पर निर्भर हैं, नहीं मिलतीं। वर्तमान संवत् के लिये यह अंतर इस प्रकार है—

संक्रांति	दृश्य	विश्व पंचांगगत
मेष	२३ मार्च १९४१	१३ अप्रैल १९४१
कर्क	२१ जून १९४१	१६ जुलाई १९४१
तुला	२३ सितंबर १९४१	१६ अक्टूबर १९४१
मकर	२४ दिसंबर १९४१	१३ जनवरी १९४१

(२) चांद्रमास कहीं शुक्ल पक्ष से आरंभ होते हैं, कहीं कृष्ण पक्ष से। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी जिस दिन होती है उसको कहीं तो भाद्र कृष्ण अष्टमी कहते हैं, कहीं श्रावण कृष्ण अष्टमी।*

* दोनों प्रकार से शुक्ल पक्ष में महीने का एक ही नाम आता है। उदाहरण के लिये इस साल १७ मार्च को जो पक्ष आरंभ हुआ उसको दोनों मतों के अनुसार 'चैत्र शुक्ल' कहेंगे, परन्तु उसके पंद्रह दिन बाद २ अप्रैल से जो पक्ष आरंभ हुआ वह एक मत से तो चैत्र का कृष्ण-पक्ष है और दूसरे मत से वैशाख का। १६ अप्रैल को दोनों मतों से वैशाख का शुक्ल-पक्ष होगा।

(३) पुराने ज्योतिष ग्रंथों में ग्रहों की गतिविधि के संबंध में जो अंक दिए गए हैं, उनके अनुसार ग्रहों के जो स्थान आते हैं वे उन स्थानों से भिन्न हैं जहाँ पर ग्रह सचमुच हैं। एक दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

सौर वर्ष का मान

आर्यभट्ट	सूर्यसिद्धांत	अर्वाचीन
३६५दि. ६घं. १२मि.२६·६४से.	३६५दि. ६घं. १२मि. ३६·५६से.	३६५दि. ६घं.६मि.६से.

यदि दशमलव के दूसरे तीसरे स्थान में भी कुछ भूल हो तो वह सैकड़ों वर्षों में बड़ा रूप धारण कर लेती है। हमारे ज्योतिषी इस बात को जानते हैं। अब महत्त्व का प्रश्न यह है कि फलित ज्योतिष के लिये इन दृश्य स्थानों से काम लिया जाय या अदृश्य से। इस विषय में बड़ा मतभेद है।

राजाश्रय के बिना ज्योतिष में यह सब गड़बड़ी आ गई है, और इसका सुधरना कठिन भी है। फिर भी, प्रयत्न करना चाहिए। मुझे विश्वास होता है कि इस काम में हमको विद्वानों के अतिरिक्त नरेशों और धनिकों का भी सहयोग प्राप्त हो सकेगा। पर्याप्त प्रचार होना चाहिए।

इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि कुछ विद्वानों की एक समिति बुलाई जाय। वह विचार करे कि (१) इन प्रश्नों पर विचार करना उचित और व्यावहारिक है या नहीं। (२) ऐसे विचार के लिये काशी में एक सम्मेलन बुलाना ठीक होगा या नहीं। (३) यदि ठीक हो तो उसमें किस किस को बुलाया जाय। (४) सम्मेलन के सामने कौन कौन से प्रश्न रक्खे जायँ और (५) सम्मेलन का आयोजन करने और उसकी रिपोर्ट निकालने में कितना व्यय होगा। इस समिति में मेरी राय में निम्नलिखित सदस्य हों :

पं० रामव्यास ज्योतिषी, हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस। पं० बलदेव मिश्र ज्योतिषाचार्य, सरस्वती-भवन, बनारस। पं० रघुनाथ शर्मा ज्योतिषाचार्य, ईश्वरगंगी, बनारस। डा० गोरखप्रसाद, प्रयाग। डा० अवधेशनारायण सिंह, लखनऊ। बा० महावीरप्रसाद श्रीवास्तव, फतहगढ़।

एक नाम कोई और हो। सात सदस्यों की समिति पर्याप्त है, जल्दी बैठ सकती है। किसी भी तीन चार दिन की छुट्टी में लोग मिल सकते हैं। मैं समिति का सदस्य नहीं हो सकता, क्योंकि इस विषय का ज्ञाता नहीं हूं। हाँ, और हर प्रकार से सहायता दूँगा। मैंने जिन नामों का सुझाव किया है इनमें प्राचीन और अर्वाचीन गणित तथा फलित सभी के विशेषज्ञ हैं।

संपूर्णानंद

राजस्थान के हिंदी ग्रंथों की रक्षा

नागरीप्रचारिणी सभा के प्रधान मंत्री के एक पत्र का उत्तर देते हुए रायबहादुर सेठ रामदेव चोखानी ने लिखा है—

"राजस्थान में जो हिंदी-साहित्य के ग्रंथों का भंडार पड़ा हुआ है उसकी रक्षा के संबंध में आपने मेरी सम्मति माँगी सो मैंने आज राजस्थान रिसर्च सोसाइटी के मंत्री श्रीयुत रघुनाथप्रसाद जी सिंहानिया से सलाह की थी। हम लोगों की राय इस प्रकार है :—

"राजपूताने में जो हिंदी-साहित्य के ग्रंथों का भंडार है वह तीन प्रकार का है। प्रथम तो ये ग्रंथ राजकीय पुस्तकालयों में हैं जिनमें से कितनी ही रियासतें तो देखने की आज्ञा प्रदान करती हैं—जैसे बीकानेर, झालावाड़ आदि—और कितनी ही देखने की आज्ञा तक नहीं देती हैं जिनमें प्रधान जयपुर का नाम लिया जा सकता है। दूसरे ये ग्रंथ विद्वानों या उनके वंशधरों के पास हैं। ये देखने के मिल सकते हैं और इनकी नकलें मिल सकती हैं। जो विद्वान् स्वयं मर्मज्ञ हैं वे ग्रंथ बिक्री नहीं करना चाहते, पर प्रोत्साहन पाने पर दान देने की भावना रखते हैं। जिनके वंशधर अशिक्षित हैं वे ग्रंथ पहले तो दिखाना नहीं चाहते, यदि उनको रुपयों का लोभ दिया जाय तो वे बेच सकते हैं। दूसरी प्रणाली का अनुसरण डा० टेसीटोरी ने किया था। उन्होंने जहाँ जो पाया मूल्य देकर खरीद लिया। परंतु इसमें कठिनाई यह है कि खरीदने में बड़ी ही सावधानी की जरूरत है। सावधानी इस बात की कि जो आदमी खरीदने के भेजा जाय वह गबन न करे और साथ ही जिससे चीज खरीदी जाय उसको उचित से अधिक

दाम न दिया जाय। तीसरे ये ग्रंथ विधवाओं के घरों में हैं। इनकी दशा बड़ी ही शोचनीय है। इन्हीं ग्रंथों का संग्रह सबसे पहले आवश्यक है। ये ग्रंथ अल्प मूल्य में पाए भी जा सकते हैं। पर सवाल है धनाभाव का। इसके लिये यदि सभा का एक कोष खोल करके रुपया संग्रह कर सकें तो यह काम चल सकता है। अन्यथा मारवाड़ी समाज के अकेले आसरे पर यह कार्य फिलहाल संभव नहीं दीख पड़ता, क्योंकि मारवाड़ी समाज की रुचि इस ओर बहुत कम है। पाँच-सात परिवार ऐसे हैं जिनकी लगन इस तरफ है। × × × ×

इस विषय में जिनकी बहुत अधिक रुचि है उनको किसी प्रकार इस ओर झुकाकर हम इस काम के लिये प्रचुर साधन संग्रह कर सकते हैं। यही इस समय की स्थिति है। × × ×"

सभा इस बहूपयोगी सूचना और सम्मति के लिये सेठ चोखानी जी तथा श्री सिंहानिया जी की बहुत आभारी है। और इसका ध्यान रखते हुए वह राजस्थान के हिंदी-ग्रंथों की रक्षा के महत्त्वपूर्ण कार्य में यथाशक्ति सचेष्ट है। परंतु इस कार्य में यथेष्ट सफलता के लिये देश के, विशेषतः राजस्थान के, साहित्याभिमानियों का उत्साहपूर्ण सहयोग अपेक्षित है। इन पंक्तियों के द्वारा हम उनका ध्यान इस ओर बहुत आग्रह और आशा के साथ आकृष्ट करते हैं।

सम्मेलन की महत्त्वपूर्ण घोषणा

अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने अबोहर (पंजाब) में हुए अपने तीसवें अधिवेशन में हिंदी और हिंदुस्तानी शब्दों के प्रयोग के विषय में अपनी नीति के स्पष्टीकरण के हेतु जो घोषणा की है वह बहुत अर्थ-पूर्ण और महत्त्वपूर्ण है। इस अंक के 'चयन' में हमने उसे संगृहीत किया है। ऐसा स्पष्टीकरण बहुत अपेक्षित था। सम्मेलन के इंदौर वाले चौबीसवें अधिवेशन में हिंदी-भाषा की जो व्यापक परिभाषा की गई थी उससे उसके प्रकृत स्वरूप के विषय में भ्रम और शंकाएँ उपस्थित हो गई थीं। राष्ट्रभाषा के लिये हिंदुस्तानी या कहीं हिंदी-हिंदुस्तानी के नाम से हिंदी और उर्दू की भिन्न शैलियों की मिश्र कल्पना का कुछ क्षेत्रों से जो सबल प्रचार होने लगा, हिंदी भाषा की प्रकृति और उसकी सहज राष्ट्रीयता

की उपेक्षा कर उसे एक कृत्रिम, अशोभन और यथार्थतः अराष्ट्रीय रूप में चलाने की जो अभिसंधि होने लगी और उसमें हिंदी-क्षेत्र के कुछ सम्मानित व्यक्तियों ने जो योग दिया उससे भ्रम और शंकाएँ बहुत बढ़ चली थीं। फलतः सम्मेलन के अधिवेशनों में हिंदी के स्वरूप के विषय में भाषण और वाद-विवाद विशेष समय लेने लगे थे। अतः शिमलावाले सत्ताईसवें अधिवेशन में हिंदी-साहित्य के लिये उपयुक्त भाषा-रूप का निश्चय किया गया। उस निश्चय का पत्रिका—वर्ष ४३, पृष्ठ ३५१-५३—में हमने स्वागत किया था। वह सम्मेलन का एक महत्त्वपूर्ण और स्मरणीय निश्चय है। उसके द्वारा सम्मेलन ने साहित्यिक हिंदी के स्वस्थ विकास की रक्षा का स्पष्ट संकल्प कर लिया। परंतु व्यावहारिक हिंदी अथवा राष्ट्रभाषा के नाम और रूप के विषय में मतभेद और शंकाएँ बढ़ती ही रही थीं। अतएव सम्मेलन का यह बहुत आवश्यक कर्तव्य हो गया था कि वह अपनी नीति और साथ ही उद्देश्य की स्पष्ट घोषणा करे। सम्मेलन ने अब ऐसी ही घोषणा की है। उसके शिमला अधिवेशन का उक्त निश्चय और अबोहर-अधिवेशन की यह घोषणा एक साथ ही स्मरणीय हैं।

यह घोषणा यथेष्ट व्यापक और स्पष्ट है। इसमें यह कहते हुए कि "प्रारंभ से ही सम्मेलन ने अपनी भाषा और राष्ट्रभाषा को हिंदी कहा है और उस भाषा तथा नागरी लिपि की उन्नति और प्रचार ही उसका उद्देश्य रहा है" और यह बताते हुए कि किस प्रकार 'निश्चित अर्थों में उर्दू और हिंदुस्तानी शब्दों का प्रचलन है' तथा 'इस विषय में सम्मेलन का कोई विरोध नहीं है', सम्मेलन ने मुख्यतः यह स्पष्ट किया है कि "सम्मेलन साहित्यिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से अपने और अपनी समितियों के काम में हिंदी-शैली का और उसके लिये हिंदी शब्द का ही व्यवहार और प्रचार करता है।" साथ ही हिंदी के राष्ट्रीय रूप के स्वाभाविक विकास का स्वागत और प्रांतीय भाषाओं के प्रति प्रेमभाव का प्रकाश करते हुए उसने सब सच्चे देशभक्तों से अनुरोध किया है कि "राष्ट्रीय उत्थान, संगठन और एकीकरण में भाषा की शक्ति का अनुभव करके वे राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रयोग और प्रचार में निष्ठा और दृढ़ता से संलग्न हों।"

सम्मेलन की इस विशेष महत्त्वपूर्ण घोषणा का हम सहर्ष और ससंतोष स्वागत करते हैं तथा आशा करते हैं कि इससे सम्मेलन की नीति के संबंध में सभी हिंदी-प्रेमियों का समाधान होगा और अब सभी 'निष्ठा और दृढ़ता से' साहित्यिक और राष्ट्रीय हिंदी की सेवाओं में संलग्न होंगे।

डाक्टर श्यामसुंदरदास जी

रायबहादुर साहित्य-वाचस्पति बाबू श्यामसुंदरदास जी बी० ए० को काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय ने गत वसंत के दिन हुए अपने रजत-जयंती महोत्सव के विशेष उपाधिदान-समारंभ में 'डाक्टर आव लेटर्स' की उपाधि से सम्मानित किया है। नागरीप्रचारिणी सभा का संस्थापन, हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग का संयोजन और हिंदी के ऊँचे अध्ययन के लिये अपेक्षित ग्रंथों का उपस्थापन, ये बाबू साहब की ऐतिहासिक सेवाएँ हैं जिनसे वे हिंदी में समादृत हैं और रहेंगे। इनका ध्यान कर उन्हें इस प्रकार सम्मानित करने में विश्वविद्यालय ने अपनी उदार गुणग्राहकता प्रमाणित की है। बाबू साहब के इस सम्मान से हिंदी-जगत् हर्षित है।

नागरीप्रचारिणी सभा और उसकी इस मुखपत्रिका का बाबू साहब से ऐसा घना संबंध रहा है कि उनके सम्मान से ये तो स्वयं सम्मानित अनुभव करती हैं। हम सहर्ष डाक्टर श्यामसुंदरदास जी का अभिनंदन करते हैं और यह आशंसा व्यक्त करते हैं कि वे सुदीर्घ काल तक स्वस्थ और प्रसन्न रहकर हिंदी-सेवकों को सत्परामर्श और शुभाशीर्वाद देते रहें।

डा० हीरालाल स्वर्णपदक के बचे धन का उपयोग

पदक या पुरस्कार के संबंध में अब सभा का यह निश्चय है कि "यदि किसी वर्ष कोई पदक या पुरस्कार योग्य पुस्तकों के अभाव में न दिया जा सके तो उसकी बचत के रुपयों से उससे संबद्ध विषय पर उच्च कोटि के निबंध या पुस्तकें लिखवाकर उन्हें पत्रिका में प्रकाशित किया जाय।" इस बार डा० हीरालाल स्वर्णपदक के संबंध में हमें ऐसी सूचना देनी है। यह स्वर्णपदक स्वर्गवासी रायबहादुर डा० हीरालाल की दी हुई १०००) रुपयों की स्थायी निधि के ब्याज से 'पुरातत्त्व, मुद्राशास्त्र, इंडोलाजी, भाषाविज्ञान

तथा एपीग्राफी संबंधी हिंदी में लिखित सर्वोत्तम मौलिक पुस्तक अथवा गवेषणापूर्ण निबंध पर' दिया जाता है। पिछली बार १ वैशाख १९९४ से ३० चैत्र १९९७ तक की प्रकाशित योग्य पुस्तक अथवा निबंध के अभाव में यह पदक नहीं दिया जा सका है। अतः इसके बचे धन का उपयोग उपर्युक्त विषयों के उच्च कोटि के निबंधों या पुस्तकों के लिये होगा जो पत्रिका में प्रकाशित होंगी।

इस सूचना की ओर हम उक्त विषयों के अधिकारी विद्वानों का ध्यान साग्रह आकृष्ट करते हैं। इस संबंध में विशेष ज्ञातव्य के निबंध या पुस्तक भेजकर जान सकते हैं।

—कृ।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९४	११	क्त	सूक्त
२९६	७	लज	जल
२९९	७	प्रतीत्या	प्रतीष्या
३०६	२	प्रवोचत	प्रवोचत्
३०८	११	पृच्छामि मं	पृच्छामिमं
३०९	९	सक्तार	सत्कार
३१०	२५	अनुगण	अनुगुण
३११	१६	वैशेषिक न्याय	वैशेषिक
३१८	२६	नड़ी	नाड़ी
३२५	१६	इंइ य	इंद्रिय
३३०	१८	जोड़	छोड़
३३२	१७	ये	ग्रह

सूचना—पृष्ठ ३१५ पर जो त्रिभुज दिया हुआ है उसकी दोनों भुजाएँ क ख और ख ग बराबर होनी चाहिएँ।

सभा की प्रगति

पुस्तकालय

कार्तिक १९९८ के अंत में पुस्तकालय में हिंदी की मुद्रित पुस्तकों की संख्या १६१८६ थी, माघ के अंत में वह १६२५४ हो गई। कार्तिक से माघ तक तीन महीनों में २३ नए सहायक बने और १२ सहायकों ने अपने नाम कटा लिए। माघ के अंत में सहायकों की संख्या १५० रही। उक्त अवधि में पुस्तकालय ७२ दिन और वाचनालय ८७ दिन खुला रहा।

लेखकों और प्रकाशकों ने पूर्ववत् उदारता दिखाई और अपनी पुस्तकें भेंट कर पुस्तकालय की सहायता की जिसके लिये सभा उनकी अनुगृहीत है।

सभा के उपसभापति श्री पं० रामनारायण मिश्र ने अपना निजी पुस्तक-संग्रह पुस्तकालय को दान कर दिया। सभा हृदय से उनकी कृतज्ञ है। उक्त संग्रह पुस्तकालय में अलग आलमारी में रखा गया है।

खोजविभाग

श्री महेशचंद्र गर्ग, एम० ए० सभा की ओर से इलाहाबाद में हस्तलिखित पुस्तकों के अन्वेषण का कार्य कर रहे हैं। श्री दौलतराम जुयाल ने बलिया में खोज का कार्य समाप्त कर दिया और अब वे आजमगढ़ में कार्य कर रहे हैं।

प्रकाशन

तर्कशास्त्र भाग २ और राजरूपक, ये दोनों पुस्तकें छपकर तैयार हैं और शीघ्र ही प्रकाशित होंगी। कागज न मिल सकने के कारण कोई नई पुस्तक न छपाई जा सकी।

श्री रामविलास पोद्दार स्मारक समिति ने अपनी ग्रंथमाला के प्रकाशन का कार्य सभा को दे दिया है और इस कार्य के लिये ४००) नगद तथा अपनी प्रकाशित तीन पुस्तकों का स्टाक सभा को दे दिया है। इनकी

बिक्री की आय उक्त माला में ही जमा होगी। उक्त समिति ने माला के प्रकाशनार्थ दस वर्षों तक सभा को २००) प्रति वर्ष देने का निश्चय किया है जिसमें उल्लिखित ४००) दे चुकी है।

स्थायी कोश

माघ ९८ के अंत में सभा के स्थायी कोश में जो धन जमा रहा उसका ब्योरा निम्नलिखित है—

१७०००) के स्टाक सर्टिफिकेट, ट्रेजरर चैरिटेबल एंडाउमेंट्स, युक्तप्रांत के पास

६५५।≈) बनारस बंक में

४५०।–)५ पोस्ट आफिस सेविंग बंक में

१२६–)७ इलाहाबाद बंक में

१८२३१।॥–)

१ मार्गशीर्ष से ३० माघ १९९८ तक सभा को २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
१ मार्गशीर्ष ९८, १८ ,, ,,	श्री रामविलास पोद्दार स्मारक-समिति, बंबई	४००)	प्रकाशन
४ ,, ,,	श्री रामनाथ आनन्दीलाल पोद्दार, बंबई	१००)	स्थायी कोश
१९ ,, ,,	श्री नारायणदास बाजोरिया, कलकत्ता	१०१)	स्थायी कोश
२० ,, ,,	श्री घनश्यामदास बिड़ला, कलकत्ता	२००)	कलाभवन
२३ ,, ,,	श्री सेठ लक्ष्मीनिवास बिड़ला, कलकत्ता	५००)	'हिंदी' पत्रिका
२९ ,, ,, , २१ पौष ,,	श्री राय कृष्णदास, काशी	५०)	कलाभवन

प्राप्ति-तिथि		दाता का नाम	धन	प्रयोजन
१ पौष	९८	श्री म्युनिसिपल बोर्ड, काशी	१८०)	पुस्तकालय
१ ,,	,,	श्री तेजस्वीप्रसाद भल्ला, गाजीपुर	१००)	स्थायी कोश
७ ,,	,,	श्री दशरथ ओझा, दिल्ली	१००)	स्थायी कोश
२८ ,,	,,	श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री, कलकत्ता	५२)	कलाभवन
२९ ,,	,,	श्री गोपीकृष्ण कानोडिया, कलकत्ता	२५)	अर्द्धशताब्दि-प्र०
९ माघ	,,		३००)	कलाभवन
३ माघ	,,	श्री रा० ब० श्रीनारायण महथा, मुजफ्फरपुर	१००)	स्थायी कोश
२० ,,	,,	श्री संयुक्तप्रांतीय सरकार	२५०)	पुस्तकालय
२५ ,,	,,	,, ,, ,,	५००)	हिंदी पुस्तकों की खोज
२७ ,,	,,	श्री 'यश' जी, लाहौर	१००)	स्थायी कोश

टि०—जिन सज्जनों के चंदे किस्त से आते हैं, उनके नाम पूरी रकम प्राप्त हो जाने पर प्रकाशित किए जायँगे।

श्री रामविलास पोद्दार ग्रंथमाला

श्री रामविलास पोद्दार स्मारक समिति (नवलगढ़) ने अपने द्वारा संचालित श्री रामविलास पोद्दार ग्रंथमाला का प्रबंध अब नागरीप्रचारिणी सभा, काशी को सौंप दिया है। इस ग्रंथमाला में उक्त समिति द्वारा अब तक प्रकाशित की गई पुस्तकें भी बिक्री के लिये सभा में आ गई हैं। सर्वसाधारण से अनुरोध है कि वे उन पुस्तकों के संबंध में अब कृपया सभा को लिखें। उनका ब्योरा अन्यत्र दिया गया है।

प्रधान मंत्री

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

त्रैमासिक

[नवीन संस्करण]

वर्ष ४६—संवत् १९९८

संपादक-मंडल

केशवप्रसाद मिश्र　　वासुदेवशरण अग्रवाल

पद्मनारायण आचार्य　　कृष्णानंद (संपादक)

मुद्रक—श्री अपूर्वकृष्ण वसु
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, बनारस-ब्रांच

वार्षिक सूची

विषय पृष्ठ

चयन

समीक्षा

विषय **पृष्ठ**

विषय **पृष्ठ**

विविध